

ISSN: 0971-8478

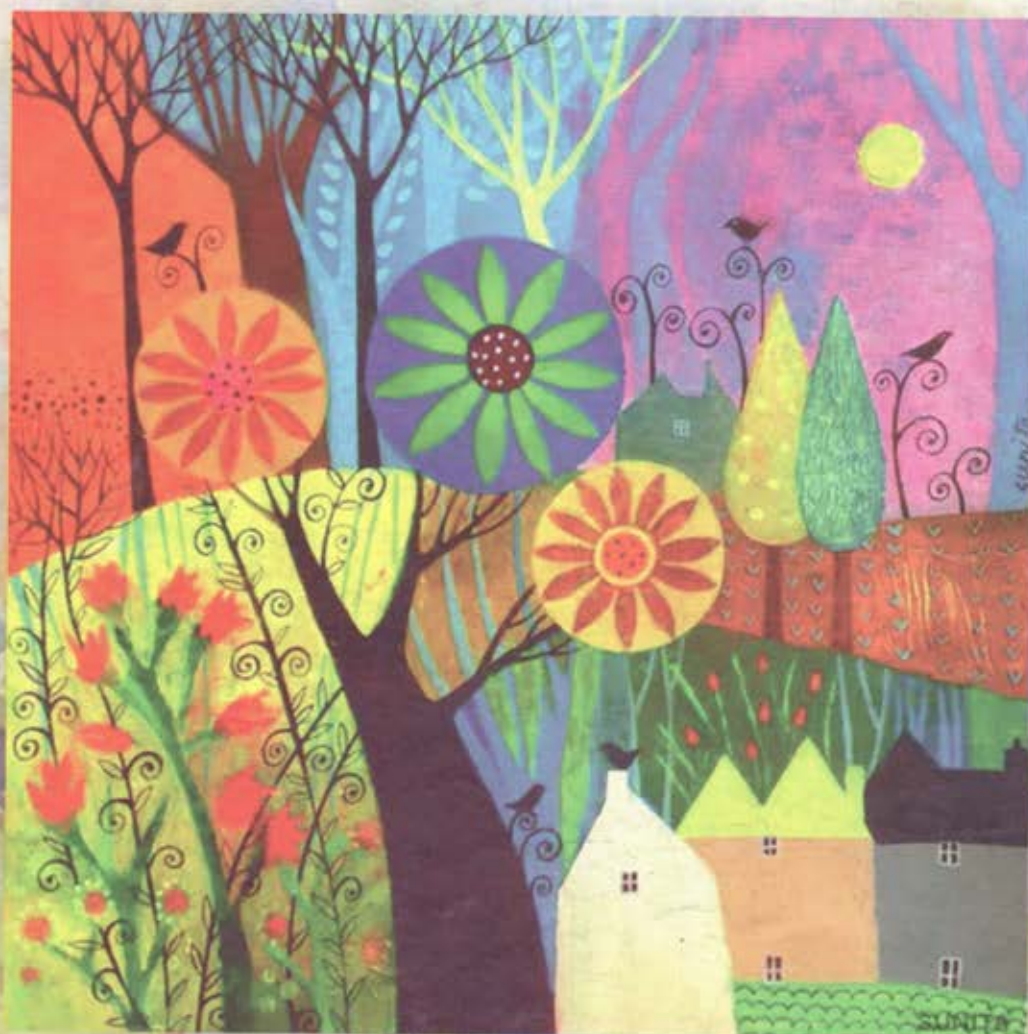
मई 2018

₹ 22

आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

साहित्य और संस्कृति का मासिक

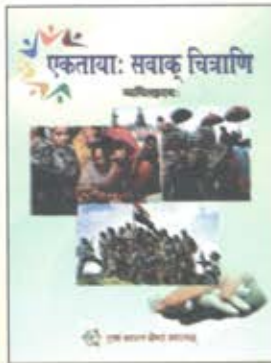
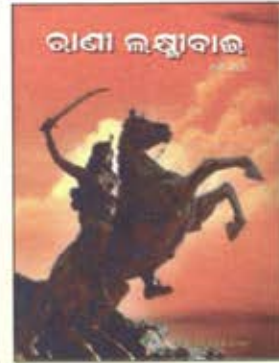
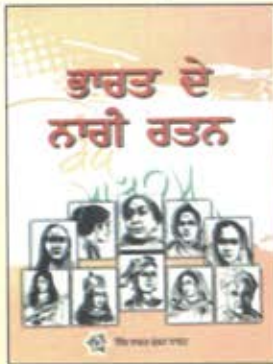
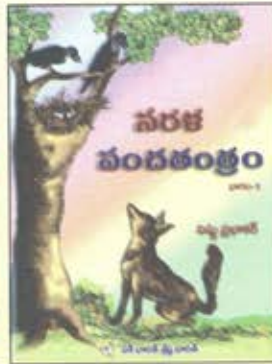
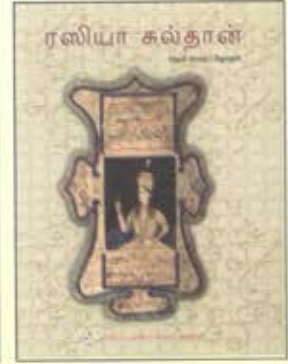
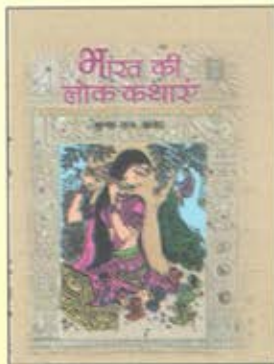


स्त्री और प्रकृति
छायावाद के सौ साल पर विशेष



एक भारत श्रेष्ठ भारत

भारत की विविधता में एकता का उत्सव
भारतीय भाषाओं में छपी हमारी पुस्तकों के साथ



प्रकाशन विभाग

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली -110003



@DPD_india



www.facebook.com/publicationsdivision
www.facebook.com/yojanaJournal

ऑनलाइन आर्डर के लिए
लॉग इन करें - www.bharatkosh.gov.in
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in
ऑर्डर के लिए संपर्क करें-
फोन : 011-24367453, 24367260,
24365609,
ई मेल : pdjucir@gmail.com,
businesswng@gmail.com

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 74, अंक : 1, पूर्णांक : 882
मई 2018, वैशाख-ज्येष्ठ 1940

वरिष्ठ संपादक

राकेशरेणु

संपादक

फरहत परवीन

आवरण (प्रथम) : सुनीता छाडेकर की कलाकृति

आवरण (अंतिम) : सुमन साहा की कलाकृति

आवरण सज्जा : राजेश कुमार

संपादकीय पत्र व्यवहार :

संपादक

आजकल, प्रकाशन विभाग

कमरा नं. 601डी, सूचना भवन

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,

नई दिल्ली-110003

फोन : 2436 2915

ईमेल : ajkalhindi @ gmail.com

website : www.publicationsdivision.nic.in

फेसबुक : www.facebook.com/

publicationsdivision



संयुक्त निदेशक (उत्पादन) :

वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :

वार्षिक : 230 रुपये, दो वर्ष : 430 रुपये,

तीन वर्ष : 610 रुपये

सदस्यता संबंधी पृष्ठताछ :

गोपाल के. एन. चौधरी

संपादक (प्रसार)

कमरा नं. 48-53, सूचना भवन

सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,

नई दिल्ली-110003

फोन नं. 011-24367453

ई-मेल : pdjucir@gmail.com

टाइपसेट : एजुकेशनल स्टोर्स, लेजर टाइप सेटिंग

इस अंक में

लेख

छायावाद के सौ साल पर विशेष

7. छायावाद भारत का नक्शा नहीं उसकी जन्मकुंडली है
13. छायावाद के बहाने....
17. मुकुटधर पांडेय : एक कृति-व्यक्तित्व
20. दस्तावेज़ : छायावाद क्या है?
22. उस दिन जब जीवन के पथ में
24. छायावाद और स्त्री-विमर्श
28. छायावाद के सौ साल
30. कवियों की दृष्टि में छायावाद
35. समालोचकों की दृष्टि में छायावाद
41. स्त्री के लिए जीने की कला
38. श्रद्धांजलि : प्रतीक-योजना

- विजयबहादुर सिंह
- विनोद शाही
- रामनारायण पटेल
- मुकुटधर पांडेय
- प्रयाग शुक्ल
- यशस्विनी पांडेय
- मनीषा झा
- —
- —
- विपिन चौधरी
- केदारनाथ सिंह

अन्य लेख

31. कला : स्त्री-सौंदर्य की पराकाष्ठा
43. बहुआयामी सांस्कृतिक साहित्यकार
56. संगीत आजकल : स्मरण संगीत संरक्षकों का
59. पत्रिका आजकल : इनकार और असहमति....

- अवधेश अमन
- विनोद कुमार सिन्हा
- पं. विजयशंकर मिश्र
- संजीव श्रीवास्तव

कहानियां

46. बदनाम
50. खेस

- संजीव
- मृदुला श्रीवास्तव

कविताएं

30. तीन कविताएं

- संदीप नाईक

पुस्तक परिचय

58. आधुनिक भारत के निर्माता :
रवींद्रनाथ ठाकुर

- —

हमारे विक्रय केंद्र : नई दिल्ली: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260, लखनऊ : हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, कोलकाता : 8, एम्प्लेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, पटना : बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, मुंबई : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलपुर, नवी मुंबई, दूरभाष : 9522-27570686, बंगलुरु : एक विंग, केंद्रीय सदन, कोयमंगला दूरभाष : 080-25537244, हैदराबाद : कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर, कावादि गुड्डा-500080, चेन्नई : राजजी भवन, बेसेंट नगर, दूरभाष : 044-24917673, तिरुवनंतपुरम : गवर्मेन्ट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650, गुवाहाटी : पेंशन पाठ रोड, हाउस नं. 4, पी.ओ. शिलपुकर-3

प्रसंगवश

सन् 1918 में जयशंकर प्रसाद कृत 'झरना' के प्रकाशन को आधुनिक हिंदी कविता के एक महत्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु के रूप में और 'छायावाद' की पहली रचना के रूप में स्वीकार किया गया हालांकि काव्य प्रवृत्ति के रूप में 'छायावाद' का सबसे पहले प्रयोग पं. मुकुटधर पांडेय ने 'श्रीशारदा' में चार भागों में प्रकाशित अपनी लेखमाला में किंचित वक्रोक्ति के रूप में किया लेकिन आगे चलकर यही नाम नवीन काव्यधारा को व्यंजित करने के लिए प्रयुक्त होने लगा और स्वयं मुकुटधर पांडेय उसके पैरोकार हो गए।

'छायावाद' एक प्रकार से अपने समय की परंपरागत काव्यधारा, उसके नैतिक, मानसिक और सामाजिक मूल्यों के विरोध में खड़ा काव्यांदोलन था। हिंदी कविता में यह एक क्रांति थी जिसे आरंभ में सहजता से स्वीकार नहीं किया गया लेकिन शीघ्र ही इसके महत्व और ज़रूरत का भान तत्कालीन समालोचकों को होने लगा। बाद के आलोचकों को स्त्री और प्रकृति के इसके मुख्य प्रतिपाद्य से आगे 'छायावाद' में नवोन्मेष, राष्ट्रवाद और स्वदेशीयता का विस्तार होता भी दृष्टिगत हुआ।

'छायावाद' की आलोचना, प्रतिआलोचना और स्वीकृति के बीच एक पूरी सदी गुज़र गई। लेकिन असहमतियों और आलोचनाओं के बावजूद इसे पूरी तरह नकारना कभी संभव नहीं हो पाया। परवर्ती काव्य प्रवृत्तियों, कवियों, समालोचकों के लिए 'छायावाद' के स्तंभ माने जाने वाले चारों कवियों— प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी को खारिज कर पाना कतई संभव नहीं हो पाया। वे साहित्यिक विमर्श के लिए और पठन-पाठन-शिक्षण के लिए हमेशा अपरिहार्य बने रहे। वस्तुतः न केवल आधुनिक कविता, वरन् समूचे हिंदी साहित्य को इन कवियों से और 'छायावाद' से विलगा कर पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। निराला तो प्रगतिशीलों और मार्क्सवादियों के लिए भी उतने ही ज़रूरी बने रहे। महादेवी की रचनाओं को भले ही रहस्यवादी और वैयक्तिक कहकर किनारे करने की कोशिशें हुई हों किंतु हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श के प्रस्थान बिंदु के रूप में उनके अवदान को नकारना किसी के लिए संभव न हुआ। 'छायावाद' भक्ति आंदोलन के बाद हिंदी कविता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पड़ाव बना रहा।

कविता को रचना कौन है? क्या कवि या उसका समय और समाज जिसमें कवि सांसें ले रहा है और जो कवि की सांसों में, उसकी सोच और चेतना में समाया हुआ है? क्या बढ़ती हुई भौतिकता, अमानवीकरण, छीजती संवेदनशीलता और खानों-खांचों में बंटता समाज, विभाजनकारी ताकतें कवि को और कविता को छू रही हैं? उसमें व्यक्त हो रही हैं? छायावादी कविताओं में तत्कालीन आलोचकों ने इस तरह के स्पंदनों का अभाव पाया और इसके कारण उसकी आलोचना की। देश के समक्ष उस काल में चुनौतियाँ अलग थीं। राष्ट्रीय क्षितिज पर गांधी के नेतृत्व में देश औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए आकुल-व्याकुल था। आलोचक, कविता में उसकी प्रकट अभिव्यक्ति चाहते थे जबकि छायावादी कवि किंचित अलग भावभूमि पर अलहदा काव्यशिल्प के साथ यह काम कर रहे थे। छायावादी कवियों ने स्वयं आगे बढ़कर अपनी कविता में राष्ट्रीय चेतना की उपस्थिति को रेखांकित किया। जयशंकर प्रसाद ने लिखा कि 'नीलदेवी' और 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्रीय वेदना की अभिव्यक्ति हुई है। आगे चल कर उत्तरवर्ती समीक्षकों ने छायावादी कविता के इस गुण को स्वीकार किया और कहा कि छायावाद गंभीर जातीय चेतना और सपनों से मॉडित कविता है जिसमें द्विवेदी युग के ऐतिहासिक प्रश्नों— 'हम कौन थे' का सांस्कृतिक और दार्शनिक स्तरों पर जवाब है। यह देशज सोच और सौंदर्य का उत्कर्ष है।

'छायावाद' के शताब्दी वर्ष में हमारे लिए यह सवाल महत्वपूर्ण हो उठा है कि छायावाद का आज के साहित्यिक परिदृश्य में क्या महत्व है; कि स्त्री-विमर्श की शुरुआती लकीरें जो छायावादी कवियों में दिखाई देती हैं, स्त्रियों का आदर्श रूप वे वहां रचते हैं, वह समकालीन विमर्श से कहाँ जाकर मिलता है? मिलता भी है कि नहीं? आज के स्त्री-विमर्श और छायावादी दृष्टि में कोई तालमेल है या नहीं? यह प्रश्न भी कौंधता रहा कि ऐतिहासिकता की स्वाभाविक गति में हेरफेर कर अथवा इसे पलटकर ही सही, क्या छायावाद आज की हिंदी कविता में संभव हो सकता था? और, यदि यह आज संभव होता तो किस रूप में होता? हिंदी कविता किस रूप में उसका संस्पर्श करती? कविता में वह किस तरह स्पर्दित होता?

अपने इन्हीं कौतुहल भरे सवालों के साथ हमने इस अंक की योजना बनाई और अपनी अपेक्षाओं-आशाओं के साथ लेखकों को संपर्क किया, उनसे अपने विचार रखने का अनुरोध किया। लेखकों की विवेचक दृष्टि आपके सामने है। आपकी राय हमारी समझ को और व्यापक बनाने में मददगार होगी। उनका स्वागत है!



होली का उपहार

युवा कथाकारों पर केंद्रित मार्च अंक निश्चित तौर पर होली का उपहार है। युवा कथाकारों के पास बहुत संभावनाएं हैं और अपने साहित्यिक पुरखों की अतुलनीय विरासत भी। इस अंक की सभी कहानियां सराहनीय हैं। राकेश बिहारी के आलेख की प्रशंसा के लिए शब्दों का अकाल सा अनुभव कर रहा हूं। एक संतुलित समालोचक की दृष्टि अपनाना सबके वश में कहां होता है! युवा कथाकारों के लिए कितनी अच्छी बात कही उन्होंने कि बढ़ते हुए पौधों को नापना नहीं चाहिए बल्कि प्रेम और दुलार से उसे पुष्पित-पल्लवित करना चाहिए। हां, इतना अवश्य है कि उसके चारों ओर उगी खर-पतवार को निकालने में सहयोग अवश्य करना चाहिए, तभी तो पौधों को पूर्ण पोषण प्राप्त हो पाएगा।

संजीव कुमार और पल्लव ने भी अपने-अपने आलेखों के साथ समुचित न्याय करते हुए युवा कथाकारों का महिमा-मंडन किया है। वैसे इस समय लिखा अधिक जा रहा है और पढ़ने वाले कम हुए हैं। मुझे याद आ

रहा है मृदुला गर्गजी का एक संस्मरणात्मक गद्य 'मेरे संग की औरतें' जिसमें उन्होंने अपनी नानी, दादी, परदादी, मां और अपनी बहनों का जिक्र किया है। उसी में उन्होंने एक जगह लिखा है कि उनकी दो बहनों ने लेखन इसलिए नहीं अपनाया कि उनके अनुसार पढ़ने वाला भी तो कोई होना चाहिए। यह बात आज कितनी शिद्दत से महसूस होती है कि लिखा हुआ यदि पढ़ा भी जाए और अच्छे पाठक वर्ग द्वारा पढ़ा जाए तो ही लिखा हुआ सार्थक होगा।

'सिनेमा का स्त्री-विमर्श' के अंतर्गत यशस्विनी पांडेय का लेख 'एकल माएं और फिल्में' सर्वाधिक प्रभावित करने वाला है। लेखिका ने संतुलित दृष्टि अपनाते हुए पहले तो विषय की प्रस्तावना बखूबी निभाई जिसमें उन्होंने उद्घाटित किया है कि वर्तमान समाज में स्त्रियों को लेकर ओछी मानसिकता के रोगी बहुतायत मिलते हैं। इसका कारण उनकी दृष्टि में पुरुषवादी समाज है। उनका कहना है कि अविवाहित मांओं और एकल मांओं पर बनी फिल्में तो लोग बड़े चाव से देखते हैं लेकिन असलियत में समाज ऐसी स्त्रियों के प्रति कितना बुरा सलूक करता है, यह अपने चारों ओर दृष्टि डालने पर हमें दिखता है। दरअसल फिल्में भले इस तरह की चीजों को दर्शाती हैं लेकिन उसके सर्वमान्य निष्कर्ष तक ले जाने में कोई सहायता नहीं करता क्योंकि तब वहां समाज के कथित ठेकेदारों से टकराव होगा। लेखिका जरूर आशावान हैं कि हो सकता है समाज यदि ऐसे विषयों पर बनी फिल्मों को

महत्व दे रहा है तो भविष्य में स्त्रियों की दशा में किंचित सुधार तो होगा।

पत्रिका इसी प्रकार साहित्य की सेवा में अनवरत जुटी रहे, इसी कामना के साथ अगले अंक की प्रतीक्षा में.....।

—रजनीश कुमार त्रिवेदी
नैनीताल रोड, बरेली (उ.प्र.)

कहानियां अच्छी लगीं

मार्च 2018 अंक प्राप्त हुआ। यह अंक युवा कथा पर आधारित काफी कुछ सारगर्भित है। संजीव कुमार का लेख 'इधर के कहानीकार' हिंदी के युवा कथाकारों की ईमानदार कोशिश को दर्शाता है, वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य को समेटे हुए अपनी कहानों के साथ। लेख 'बदलते जीवन परिदृश्य का युवा कहानी पर प्रभाव' काफी कुछ युवा पीढ़ी के कहानीकारों के विचारधारा को मजबूती से दर्शाता हुआ दिखाई देता है जिसमें हमारे आस-पास के बदलते जीवन की झलक स्पष्ट दिखती है। नई पीढ़ी हो या पुरानी पीढ़ी के कहानीकार सभी में वर्तमान जीवन की पीड़ा को बयान करने का प्रयास किया गया है। नवनीत नीरव की कहानी 'आंखें' बहुत कुछ यथार्थ को समेटे हुए बदलते ग्रामीण जीवन को दर्शाती हुई कहानी है।

पल्लवी प्रसाद की कहानी 'भगोड़े' में लोगों की मानसिकता को उधेड़ने का प्रयास किया गया है। परिचर्चा 'समय ने करवट बदला कहानी ने घूँघट खोला' में कहानियों का उद्देश्य क्या होना चाहिए, दिशा, दृष्टि, संवेदनाएं, यथार्थ बोध, यौन कहानियां आदि

का कथ्य और शिल्प क्या होना चाहिए, यथार्थ के खुरदरे धरातल पर आकर किस प्रकार सामना करती है, कहानियों की भाषा में काफी परिवर्तन हुआ है। 'नई पीढ़ी के कहानीकार' में बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है, जो कि पाठकों की अपनी कहानियां लगती हैं, हालांकि शब्द कहीं-कहीं खटकते हैं, फिर भी ठीक है। सिनीवाली की कहानी 'इत्रदान' बदलते वक्त की फिसलती ज़मीन की कहानी है। शैली अच्छी है। कहानीकार को बधाई! फुरहत दुरानी की गज़लें खुद को व्यक्त करने में सक्षम हैं।

—अनुराधा चंदेल 'ओस'
मिर्ज़ापुर (उत्तर प्रदेश)

लाजवाब कहानियां

'आजकल' का कहानीकारों पर विशेष अंक विस्तृत जानकारी और कहानियों और कहानीकारों पर गहरी पड़ताल के कारण भविष्य में शोधकर्ताओं के लिए अत्यंत उपयोगी है और हम जैसे हिंदी साहित्य के पाठकों के लिए संग्रहणीय भी। राकेश बिहारी के 'भूमंडलोत्तर' शब्द पर कोई आपत्ति नहीं है। हर भाषा के साहित्य में ऐसे ही शब्द गढ़े जाते हैं जो भाषा को लचीला, आकर्षक और समृद्ध बनाते हैं। केवल एक बात है कि 'भूमंडलोत्तर' शब्द गुलत और अर्थहीन है क्योंकि भूमंडल के बाद कुछ नहीं हो सकता।

सभी लेख उत्तम और विशिष्ट हैं, दिलचस्प भी किंतु, ऐसे विषय पर लिखने में एक ही खतरा है कि जो साहित्यकार

छूट जाते हैं उन्हें आपत्ति होती है और पक्षपात, खेमेबाजी तथा पूर्वाग्रह का शक होता है। पल्लव के लेख में भी यह कमी है। यहां भी एक वृहत परिदृश्य की व्याख्या-विश्लेषण का अभाव है। त्रुटि यह है कि केवल कुछ कहानियों का ही विस्तृत विश्लेषण है। पल्लव भूल गए कि वे किस विषय पर लिख रहे हैं। एक-दो लेखकों पर न लिखकर एक कालखंड के लेखन पर टिप्पणी की आवश्यकता थी।

इस अंक का सबसे सुखद आश्चर्य है कि इसमें छह कहानियां हैं और सभी कहानियां लाजवाब हैं। सभी गहरे प्रतीक के साथ हैं और सभी का अंत प्रभावशाली है। सुनीता और नासिरा शर्मा के लेख (परिचर्चा) छोटे हैं किंतु विषय के अनुसार सटीक हैं और बहुत लंबी कालावधि को समेटे हैं। इस अंक की कहानियों के स्तर की कहानियां जल्दी पढ़ने को नहीं मिलतीं, वर्षों बाद ऐसा सुअवसर आता है।

-प्रमोद कुमार सिंह
बुद्धा कालोनी, पटना

कविताओं की कमी

पत्रिका 'आजकल' खासकर कविताओं के लिए पढ़ता हूँ, कहानी मेरी दूसरी पसंद है। मार्च 2018 अंक में कविताओं का अकाल दिखा लेकिन बाकी सब कुछ लेख, विमर्श, साक्षात्कार, समीक्षा आदि पढ़ा। लगा कि 'आजकल' एक छोटी-सी बगिया है साहित्य और संस्कृति की, जिसमें सब फुलवारी! फ़रहत दुर्गानी 'शिकस्ता' की गुज़लें पढ़ी तो दिल की कंदील जगमगा गई। गुज़रिश है कि खास कठिन या अप्रचलित उर्दू के शास्त्रीय अलफ़ाज़ के हिंदी-समतुल्यों को फुटनोट में दे दिया करें तो हम जैसे हिंदी के पाठकों को सुविधा होगी।

विचारणीय अंक में छपा हुआ सब कुछ पढ़ लेने के बाद ध्यान नज़्म सुभाष की कहानी 'बाज़ार' पर केंद्रित हो गया। इसे दो बार और पढ़ा। बंबईया-भाषा में कहें तो नज़्म सुभाष ने 'बिंदास' लिखा है। उनकी बेबाकी से एक तीर से कई निशाने सध गए हैं— गुटखाखोरी, काहिली, स्त्री की विवशता और चिड़ियों पर क्रूरता का बाज़ार... उम्मीद है कि लोग अपने शौक की खातिर इतने बेरहम नहीं होंगे, चिड़िया बाज़ार का रुख न करें, मासूम परिंदों को पिंजड़ों में कैद कर रखने का जुर्म न करें। कई-कई बार तोते, लव बर्ड आदि को पिंजड़ों से आज़ाद किया है, भले ही चोरी-छिपे पर हर बार खुशी से छाती फूल जाती है। 'बाज़ार' कहानी छोटी-सी है, इससे जो हौसला-अफ़ज़ाई हुई वह काबिले तारीफ़ है।

-रामचंद्र मिश्र
पेंसिफिक एनक्लेव, मुंबई

अशुद्धियों पर ध्यान दें

मैं 'आजकल' पत्रिका का नियमित पाठक हूँ। दो दशक से अधिक समय से मैं इसे पढ़ रहा हूँ। पिछला अंक यानी फरवरी का, जो कृष्णा सोबती पर केंद्रित था, काफी अच्छा था। मार्च, 2018 अंक ने मुझे थोड़ा निराश किया। पृष्ठ 31 पर 'परिचर्चा' में अशुद्धियों की भरमार है। उसके शीर्षक में ही अशुद्धि है— 'समय ने करवट बदला कहानी ने घूँघट खोला'। इसमें करवट बदली होनी चाहिए क्योंकि करवट स्त्रीलिंग है। साहित्यिक पत्रिका होने के नाते इस पर ध्यान दिया जाए।

-सतीश कुमार मिश्र
मोतिहारी, पूर्वी चंपारण

महत्वपूर्ण दस्तावेज़

'आजकल' मार्च 2018 अंक को एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ कहें तो अतिशयोक्ति न होगी।

यह अंक जानकारीयों से परिपूर्ण है। यदि कोई नया व्यक्ति साहित्य की दुनिया में कदम रख रहा हो तो इस अंक में प्रकाशित विमर्श उसके साहित्य संबंधी ज्ञान के अद्यतन के लिए बहुत सहायक होंगे।

कहानियां 'बाज़ार', 'भगोड़े' और 'भगवान आपको सब कुछ देगा' मन पर अमिट छाप छोड़ती हैं। हृदय के तारों को झंझोड़ भी देती हैं। कहीं-कहीं संभवतः ये कहानियां वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में शुमार की जाएं।

यशस्विनी पांडेय ने अपने लेख में अविवाहित मातृत्व को सही बताने का प्रयास किया है। वैसे हमारी संस्कृति यह अनुमति नहीं देती। उन्होंने कुंती का भी जिक्र किया है। आज बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो पहले के समय में मानी जाती थीं लेकिन अब उनकी मान्यता आधुनिक पीढ़ी ने समाप्त कर दी हैं जिसके गंभीर परिणाम भुगतने पड़ रहे हैं। वे लिखती हैं कि पाश्चात्य देशों में अविवाहित मां बनना पसंद नहीं किया जाता। भारतीय तो वैसे भी पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित हैं। कुछ तो बात होगी ही कि यौनमुक्त देशों में भी अविवाहित मातृत्व को नकारा जाता रहा है। 'हमारा समाज अविवाहित मातृत्व की अनुमति नहीं देता' ऐसी सोच केवल उन्हीं युवा महिलाओं की होती है जो अपने पैरों पर खड़ी होती हैं लेकिन उम्र का एक पड़ाव पार करने के बाद ऐसी सोच में परिवर्तन होने लगते हैं। लेखिका फिल्मों से भी काफी प्रभावित दिखती हैं। लेख लिखना और ऐसी स्थिति खुद के साथ हो जाना, दोनों में बहुत फ़र्क़ है, ऐसा उन्हें समझना चाहिए। पत्रिका का उत्कृष्ट अंक देने के लिए संपादकीय विभाग बधाई का पात्र है। आगे भी ऐसे ही श्रेष्ठ अंकों की उम्मीद की जाएगी।

-सुनील शर्मा
बुराड़ी, दिल्ली

विविधता और व्यापकता

'आजकल' के दो विशेषांक एक साथ पढ़ें। 'युवा कविता के प्रखर स्वर' विशेषांक में कवियों ने आधुनिकीकरण के उस मिथक को तोड़ा है जिसमें यह कहा जाता रहा है कि कविता अब हाशिए की चीज़ है। आज के युवा कवियों और कवयित्रियों को देखकर कहीं भी ये नहीं लगता कि कविता हाशिए पर चली जाएगी। कवियों में गहन बौद्धिक अनुभूति और समाज में बदलाव लाने की छटपटाहट साफ़-साफ़ दिखाई दे रही है।

इस अंक में विमल कुमार, निरंजन श्रोत्रिय, आशीष कुमार मिश्र, उमाशंकर चौधरी के आलेख कविता के वर्तमान और बारीकियों से परिचित कराते हैं। पल्लवी प्रकाश, मुसाफ़िर बैठा, विहाग वैभव की कविताएं जीवन मूल्यों से जुझती कविताएं हैं जो सरल और सहज भाषा में लिखी गई हैं। हिंदी कविता की रचनाशीलता स्वतंत्र होकर आगे बढ़ रही है। यह कविता के लिए अच्छे दिनों की एक अच्छी कोशिश है। कुंवर नारायण को याद करते हुए 'आजकल' ने उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि दी है। कुंवर नारायण हमारे दौर के श्रेष्ठ कवि हैं।

'युवा कथा के मिहिर द्वार' विशेषांक में राकेश बिहारी, संजीव कुमार, पल्लव, सुनीता ने कहानी-विमर्श पर गहरी पड़ताल की है। पल्लवी प्रसाद की कहानी 'भगोड़े' एक सशक्त कहानी है। मर्मस्पर्शी शैली में लिखी गई कहानी मन की अंतर्वृत्तियों को कुशलता से चित्रित करती जाती है जिसमें विविधता और व्यापकता है।

-विश्वप्रताप भारती
बरला, अलीगढ़

छायावाद

भारत का नक्शा नहीं उसकी जन्मकुंडली है

विजयबहादुर सिंह



संपर्क : 29, निराला नगर, दुष्यंत
कुमार मार्ग, भोपाल-462003 (मध्य
प्रदेश) मो. 9425030392

छायावाद जितना उन्नीसवीं सदी के नवजागरण की प्रेरणाओं से संबद्ध था, उतना ही उस स्वदेशी आंदोलन और स्वदेशीयता से भी जिसके कुछ बिंदु भारतेंदु से जुड़े थे। 'यथार्थवाद' और 'छायावाद' शीर्षक अपने निबंध में कवि प्रसाद ने लिखा कि 'नीलदेवी' और 'भारत दुर्दशा' इत्यादि में 'राष्ट्रीय प्रभावमयी वेदना' की अभिव्यक्ति हुई।

भारतेंदु से लेकर— जिनका जन्म अठारह सौ पचास और बचपन अठारह सौ सत्तावन में गुजर रहा था— यह अनुभव करा रहा था कि हम एक स्वाभिमानी जुझारू स्वाधीन जाति हैं जो किसी आलस्यवश पराधीन ही नहीं हो चुके हैं बल्कि अपने 'स्व' को विस्मृत कर चुके हैं। यह जातीय आत्मविस्मरण वृहत्तर अर्थों में एक ऐसा सांस्कृतिक आत्मविस्मरण था जो पीड़ादायक था। गुप्तजी की 'भारत भारती' में 'हम कौन थे' का प्रश्न यही था। यों गुप्तजी ने अपनी कविता में इसके उत्तर खोजने की भरपूर कोशिश की और वे अतीत के युगों में गए भी पर कहीं के कहीं पहुंच गए। कह सकते हैं कि यह एक साहित्यिक दिशाहीनता थी जो उनके कवि को ग़लत ठिकानों की ओर ले गई। फिर भी खेती-किसानी में जिसे परती जोतना या शहरी जीवन में 'रफ़ डाफ़्ट' कहते हैं, वह भूमिका तो उन्होंने निभाई ही।

गुप्तजी का ऐतिहासिक योगदान खड़ी बोली के उस उद्यम में है जिसे उन्होंने एक संतोषदायी पठनीय कविता के रूप में संभव किया।

याद दिलाने की ज़रूरत यहां है कि भारतेंदु अपनी ऐसी कोशिश में सफलता का अनुभव नहीं ही कर पाए थे।

गुप्तजी ने खड़ी बोली के काव्य-संगीत को संस्कृत काव्य-संगीत से बैंगर किसी हिचक के एक स्वाभाविक उत्तराधिकारी के रूप में ले लिया। इन रूपों में गुप्तजी का योगदान अविस्मरणीय है। इसे भूलना भाषा और उसके जातीय संगीत की अवहेलना करना है।

हिंदुस्तानी समाज के एक सदस्य की दृष्टि से कभी-कभी यह सोचने में आता है कि खड़ी बोली कविता के पहले रेखा को जो कविता (या शायरी) मीर, सौदा या ग़ालिब की शायरी में संभव की जा रही थी, गुप्तजी ने उसकी ओर भी कभी-कभी क्यों नहीं देखा। खास करके हमारे अपने इस समय में कवियों ने उसे गंभीर अपनत्व देना शुरू ही नहीं किया है बल्कि उसके प्रति पारिवारिकता को अनुभव कराना भी शुरू किया है। यह भी कि फ़ारसी के हिंदुस्तानी कवियों ने 'मीर' और 'ग़ालिब' जैसे महान शायरों को कभी भी सम्मान और समानता की दृष्टि से नहीं देखा। उन्हें हमेशा 'हिंदी कवि' कहा।

इस प्रसंग को अकस्मात् या अकारण याद नहीं कर रहा बल्कि इसलिए कि 'अमीर खुसरो' और 'कबीर' ने जातीय कविता और उसकी भाषा की जो शुरुआत की थीं वे नज़रंदाज़ के योग्य तो बिलकुल ही नहीं

था। तुलसी, मीरा और रहीम आदि ने इसे समझा था। हमारे ज़माने में इसके अगुवा प्रेमचंद थे। तब भी इसमें एक सावधानी जरूरी थी। जिसकी ओर बहुत सटीक निगाह फ़िराक़ गोरखपुरी ने उठाई और रेखांकित की है। सुमंत प्रकाश 'शौक' से बातचीत करते हुए 'गुप्तगू' शीर्षक (उर्दू) किताब (अनुवाद : डा. परमानंद पांचाल) में कहा कि यों तो उर्दू शायरी में बहुत कुछ है पर एक भी सीता या शकुंतला नहीं है जिनसे बृहत्तर भारतीयता की स्मृतियां जुड़ी हैं। उर्दू या रेखा अगर चूकी तो यहीं चूकी। तब किन बजहों से फ़ारसी के कवि मीर-ग़ालिब को 'हिंदी' कवि कहते थे, वे ही जानें।

इस अवान्तर प्रसंग को छोड़ने का एक बड़ा मतलब यह कि छायावाद के प्रसाद और निराला जैसे कवियों ने इस घेरेबंदी को पसंद नहीं किया। वे उस ओर भी गए। भारतेंदु तो 'रसा' नाम से उर्दू शायरी किया ही करते थे रेखा में।

गुप्तजी की ओर या समूचे द्विवेदी युग की ओर लौटते हुए जिसमें राष्ट्रकवि के अलावा हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी और गुरुभक्त सिंह 'भक्त' जैसे दुरुस्त और पठनीय कवि थे— कहा जा सकता है कि इस काव्य-युग ने वे कतिपय प्रमुख गवाक्ष खोल दिए थे जिधर छायावाद के कवि-गण भी गए। मसलन राष्ट्रीयचेतना और उसे उद्दीप्त करने के लिए सुदूर अतीत की ओर लौटना। सो भी ऐसे अतीत की ओर जो हमें प्रेरणा और शक्ति प्रदान कर सके। भक्तिकाल में भी राम-कृष्ण थे ही। द्विवेदी युग ने बुद्ध को भी अंगीकार किया। फिर समकालीन आर्यसमाज जैसे सामाजिक परिवर्तन और प्रस्थान वाले आंदोलनों के प्रति भी सजगता इनमें देखी ही गई। गांधी तो जहां-तहां से झिलमिला रहे थे।

छायावाद ने इन प्रभावों को अस्वीकार नहीं किया बल्कि इन्हें स्वीकार करते हुए उसमें बहुत कुछ जोड़ा और समृद्ध किया। इसलिए दोनों ही ऐतिहासिक आंदोलनों को क्रमिकता और निरंतरता की प्रक्रिया के तहत देखे जाने की ज़रूरत है न कि एक के विरुद्ध दूसरे को खड़ा करके देखने की। आलोचना का न्याय भी यही है कि हम किसी पक्षधर अभिभाषक या प्रवक्ता की तरह नहीं, समूची विरासत के उत्तराधिकारी के रूप में अपनी जातीय कविता के निरंतर विकसित और बदलते हुए चेहरे को पहचानें और याद करें।

प्रगतिवाद जैसे एक यथार्थवादी और राजनैतिक दृष्टिकोण द्वारा प्रवर्तित बहुलांश में वस्तुपरकता का विचारधारात्मक आंदोलन था। प्रयोगवाद भी कवि-व्यक्तित्व की स्वाधीनता और कलात्मक विशिष्टता का आंदोलन था। कहते हैं इन दोनों ही काव्यांदोलनों के पीछे पश्चिम की सामाजिक उथल-पुथल, दो-दो महायुद्धों से उपजी जीवन-दृष्टि और व्यक्तित्व की आत्मसजगता, कलागत अद्वितीयता और विशिष्टता का विचार प्रस्थान था। इस तुलना में जब हम छायावाद और उसकी कविता को लेकर सोचते हैं, तो यह हमारी परम स्वाधीनता, आत्मबोध, सामूहिक जातीयता और सांस्कृतिक

गौरव का एक ऐसा कालांतरगामी देशज गान था जिसकी चेतना का निर्माण राजाराम मोहन राय, दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, उनके शिष्य विवेकानंद, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी के सामाजिक और सांस्कृतिक उद्यमों के सहयोग से हुआ था। यानी कि पुनरुत्थानवाद, नवजागरण, पराधीनता-विरोध और सांस्कृतिक नवजागरण की ताकतें ही इसे काव्य-परंपरा में प्रतिष्ठाजनक पहचान देती गईं।

यह भी क्यों भूला जाना चाहिए कि इसके स्रष्टा और उनका व्यक्तित्व परंपरा से फूटा उस नवागत अंखुवे सा है जिसकी आभा में समूची वैदिक विरासत की सुगंध और नवोन्मेष की ताजगी का प्रकाश झिलमिला रहा है।

छायावाद वस्तुतः काव्यालोचकों और उस समय के काव्य-रसिकों द्वारा दिया गया व्यंग्यात्मक नाम था जिसका अर्थ ऐसी नई रचनाओं से था जो उस समय के जिज्ञासु साहित्य पाठकों की ग्रहणशीलता के दायरे से बाहर थीं। कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने अपनी पुस्तक 'जिन्होंने मुझे रचा' में लिखा, "द्विवेदी-युग खड़ा तो रीतिकाल की रूढ़ शृंगारिकता के विरोध में हुआ था लेकिन कालांतर में उसने इस विरोध को ही दृढ़कर लिया और फिर जैसा स्वाभाविक था, अनेक ऐसे लोग सामने आए जिन्हें जाने-अनजाने द्विवेदीजी और उन जैसे अन्य गणमान्य साहित्यिक अधिनायकों जैसे भासित होने लगे। उन्होंने आदर्श का स्थान यथार्थ को और सो भी बिलकुल व्यक्तिगत यथार्थ यानी अपने ही सुख-दुख और आंतरिक संशय और अन्वेषणों को देना शुरू कर दिया।" भवानी प्रसाद मिश्र आगे भी कहते हैं, "अलबत्ता कुछ साहस की कमी कहिए, कुछ पश्चिम के रोमांटिक कवियों का प्रभाव कहिए, उन्होंने मन की दुविधाओं और दशाओं को बहुत धुंधला बनाकर पेश किया अर्थात् जैसे एकदम प्रतिक्रिया में अभिधा को नितान्त गौण रखकर व्यंजित किसी अर्थ की बहुत बड़ी एक गुंजाइश छोड़ दी। प्रसाद, पंत, महादेवी यहां तक कि 'निराला' और माखनलाल चतुर्वेदी की कविताएं भी अधिकतर इसी तरह की कविताएं कही जा सकती हैं।"

(रचनावली : आठ, पृष्ठ 154, सं. विजयबहादुर सिंह)

मिश्रजी ने ऊपर जिस नई काव्य-भाषा और काव्य-भंगिमा की बात की है उसका एक समर्थनकारी उल्लेख कविश्री नागार्जुन ने अपनी एक कविता में किया—'कुहासे सी भाषा, न सांझ की न भोर की।'

यह भाषा और भंगिमा शुक्लजी के लिए भी चुनौती बन कर आई और परेशान करने लगी। वे उसे 'केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास' कह संतुष्ट दिखने लगे।

सवाल यह कि छायावाद क्या केवल एक अभिव्यंजना-प्रणाली था? क्या कोई नूतन भाषाभिव्यक्ति केवल अभिव्यक्ति-चमत्कार है सो भी कवियों द्वारा? मेरा मानना है कि अनुभव-दृष्टि के बदले बिना, भाषा-दृष्टि का बदलना बेमानी है। शुक्लजी किंतु यहीं रुके नहीं, आगे भी लिखा—'छायावाद नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साक्ष्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही।"

('हिंदी साहित्य का इतिहास' (पेपर बैक) पृष्ठ 353 और मुक्तिबोध-पंडित रामचंद्र शुक्ल छायावादी रचना-प्रक्रिया को नहीं समझते थे, इसलिए उसका विरोध करते रहे। रचनावली : पांच, पृष्ठ 222)

इस पृष्ठभूमि पर हम अगर प्रसाद की 'झरना' और 'आंसू', निराला के 'परिमल' और पंत की 'वीणा' और 'ग्रंथि' जैसी कृतियों को देखें तो शुक्लजी समेत कई परवर्तियों को भी इस नई काव्याभिव्यंजना को लेकर न केवल आपत्तियां थीं बल्कि थोपे जाने वाले आरोप भी थे।

छायावाद के कवियों ने ऐसे ही विपरीत साहित्यिक माहौल में अपनी अविफल और दृढ़ काव्य-साधना की। यहां समझने की जरूरत है कि बड़े से बड़ा आलोचक भी अपने युग की संवेदनाओं से अधिकांशतः बंधा रहता है। यह उसकी स्वाभाविक सीमांत है पर अपराध नहीं।

शुक्लजी की इस सीमा का, उन्हीं के जीवन-काल में, जो दूसरा युवालोचक आया, वह कोई पराया नहीं, उन्हीं की कक्षा का एक छात्र था नंददुलारे वाजपेयी। उन्हीं का एक प्रखर और तेजस्वी शिष्य। अपने विद्यार्थी-काल में ही सबसे पहले उसने अपने मित्र 'निराला' को आमंत्रित कर हरिऔधजी की अध्यक्षता में सभा की। प्रसाद उस सभा में उपस्थित थे। दो-एक साल बाद 'भारत' (इलाहाबाद) का संपादकी ग्रहण करने के बाद उसने 'हमारे साहित्य का भविष्य' शीर्षक एक ऐतिहासिक लेखमाला लिखी और यह सुस्पष्ट किया कि छायावादी कविता गंभीर संवेदनाओं की कविता है और उसे सिर्फ एक भाषाभिव्यक्ति या भाषाभंगिमा कह खारिज नहीं किया जा सकता। यह कविता पहले से स्थापित और शासित करने वाले साहित्य-शास्त्र की छाया में नहीं लिखी गई है बल्कि नए युग का नया काव्य-विस्फोट है। तीसरे, इसकी समूची काव्य-प्रक्रिया गंभीर और उद्गार मूलक है। उसने उन्नीस जनवरी 1931 की आठवीं लेखमाला में लिखा, "कविता जिस स्तर पर पहुंचकर अलंकार विहीन हो जाती है वहां वह वेगवती नदी की भांति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तब्ध कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहां बह जाते हैं।" ('नंददुलारे वाजपेयी रचनावली'—सात, पृष्ठ : 174, सं. विजयबहादुर सिंह)

यह तो छायावादी कवि पंत ही थे जिन्होंने 'पल्लव' में लिखा—
"वियोगी होगा पहला कवि/आह से फूटा होगा गान"।

वस्तुतः भाषाभिव्यंजना नहीं, नई काव्य-चेतना और नई कवि-दृष्टि की बात थी। इसमें कवि का व्यक्तित्व तो अहम था ही उसकी कविता भी अपूर्व और अद्वितीय थी। उसकी यह अद्वितीयता उस सामान्य और सहज बोध से जुड़कर उसके व्यक्तित्व के उदात्त क्षितिजों तक जाती थी। व्यक्ति की उपेक्षा तो कहीं न थी किंतु लोक के कालजयी गतिशील रूपों पर भी उसकी बराबर की निगाह थी। इसी रूप में इसकी वह बहुआयामिता थी जिसके मूल में प्रसाद और निराला जैसे असाधारण काव्य-व्यक्तित्व थे।

यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इस 'व्यक्तित्व' में भावों की जितनी अतालान्तता थी, कल्पनाओं की उतनी ही ऊंची उड़ान भी। प्रवर कोटि की बौद्धिकता तो विशिष्ट प्रज्ञा थी। परंपरा के गहन अतीत की छायाएं तो यहां पुरखों के रक्त-संचार की तरह गतिमान थीं ही, युग की नई संवेदनाओं का साहसिक संचार भी था। फिर इस कविता की अपनी एक विश्व-दृष्टि थी, किंतु अपनी प्रकट स्वदेशीयता की मांग लिए। तभी तो छायावाद का कवि कह रहा था, "पश्चिम की उक्ति नहीं/गीता है/गीता है/स्मरण करो बार-बार।" ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्मृतियों का आभायुक्त चेहरा लिए हुए यह कविता सहज ही उस 'सत्याग्रह-युग' का काव्य-संस्करण थी जिसके नायक गांधी थे। इसके अवचेतन में वह 'हिंद स्वराज' भी था जिसके रचयिता गांधी थे। इस रूप में यह अपने युग के स्वदेशी आंदोलन के समानांतर काव्य-आंदोलन था। गांधी की राजनीति में सत्य और अहिंसा का जो आध्यात्मिक आग्रह था, वही तो बहुलांश में इस कविता में भी था।

प्रसाद का यह कहना कि, "छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है—उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिंदी ने आरंभ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया।" ('काव्य-कला तथा अन्य निबंध', पृष्ठ 127, सं. रत्नशंकर प्रसाद) प्रसादजी की मानें तो अनुभूति से अभिव्यक्ति का परिपूर्ण तादात्म्य ही इसकी विशेषता है। ऐसी स्थिति में न तो धुंधलापन रहना है न अस्पष्टता।

फिर यह अनुभूति कैसी? आत्मस्पर्श से मंडित अनुभूति जो आंतर भाव को व्यक्त करने में समर्थ हो। सीधा और स्पष्ट यह कि द्विवेदी युगीन सपाटपन और अभिधात्मकता या इतिवृत्तात्मकता से आगे बढ़ी हुई एक सूक्ष्म और सांकेतिक अभिव्यक्ति प्रणाली।

मैं समझता हूँ यह स्थूल को सूक्ष्मता की ओर ले जाने की एक महत् कोशिश थी जिसमें भावों की गहनता के साथ विचारों की तेजस्विता और उदात्तता थी। निश्चय ही इन कवियों की चेतना का आकाश अत्यंत विस्तृत था जिसमें 'कामायनी' की श्रद्धा-इड़ा और मनु तो समा ही सकते थे। 'राम की शक्ति पूजा' के साथ बेडब काव्य-नायक कुकुरमुत्ता भी अस्वीकार्य नहीं था। कविता का यह एक नया ही काव्यावतार और युगांतर था जो बीसवीं शताब्दी की कविता का शीस-मुकुट बना।

अब जुरा छायावाद के साथ और उसके पर्याय बने-बिगड़े शब्दों पर भी विचार कर लें- यानी रहस्यवाद और स्वच्छंदतावाद। आलोचकों द्वारा अपनाए गए कुछ विशेषणधारी शब्द-अध्यात्मवादी काव्य, सत्याग्रही काव्य आदि।

इस पर पहली आपत्ति तो यह कि 'छायावाद' एक लोक प्रचलित और लोक स्वीकृत संज्ञा है। आचार्य शुक्ल आदि साहित्याचार्यों ने इसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति-भंगिमा के आधार पर काव्य-शैली माना है। इसलिए यह साहित्यिक पदावली है। बात चाहे भाषागत सांकेतिकता या व्यंग्यकता की हो या फिर धुंधलेपन, अनेकार्थता और दोहरे अर्थ की, सारे इशारे उसी ओर हैं। छायावाद के प्रवर्तक जयशंकर प्रसाद जब अपनी व्याख्याओं में इसे 'आत्मस्पर्श से मंडित अनुभूति' का और 'अनुभूति से अभिव्यक्ति का पूर्ण तादात्म्य' कहा, या फिर 'भाव सने उद्गारों का विस्फोट' और विश्वात्म की एकता की अनुभूति का काव्य; तब बात कविता की देह से लौटकर कविता की आत्मा की ओर चली जाती है। कह सकते हैं कि यह कविता इस आधार पर जितनी दार्शनिक अर्थात् रहस्यात्मक मुद्राएं लिए हुए है उतनी ही सांस्कृतिक गूंज और अनुगूंज भी। प्रसाद तभी तो इसे 'भाषा के अपने सांस्कृतिक सुधारों की कविता' कह गए।

प्रसाद को फिर उद्धृत करने का जी चाह रहा है, "हिंदी में जब इस तरह के प्रयोग आरंभ हुए तो कुछ लोग चौंके सही, परंतु विरोध करने पर भी 'अभिव्यक्ति के इस ढंग को' ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत के लिए आवश्यक थे।"

सूक्ष्म आंतर भावों वाली इस कविता को छायावाद के अविच्छेद्य संगी आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जब अपने विवेचन में आध्यात्मिक संस्पर्शों का काव्य अथवा संसार से प्रकृति की एकता की गहन अनुभूति का काव्य कहते हैं तब हिंदी के कई वादी और लटबाज युवालोचक इस आध्यात्मिकता का अर्थ प्रवचनकार से हुआ वस्त्रधारी बाबाओं की आध्यात्मिकता से जोड़ने लगते हैं। इसे हिंदी आलोचना का अंध विचारधारावाद कहें या फिर साहित्य का दुर्भाग्य- कहा नहीं जा सकता। न केवल आचार्य नंददुलारे वाजपेयी बल्कि उनके ही समकालीन साथी आलोचक डा. नगेन्द्र ने साहित्य-चिंतन की जो नई राह प्रवर्तित की थी, उसे 'विचारधारा' के कठमुल्लों ने साहित्य के अखाड़े से घसीट कर, वादग्रस्त विचारों के अखाड़े में जा पटक।

साहित्य और विचारधारा का संग-साथ कोई नया नहीं है पर विचारधाराएं अनेक हैं। वे भौतिकतावादी भी हैं और भाववादी भी। यह कवि या लेखक का अपना स्वतंत्र अधिकार है। छायावाद के तो सारे कवि भाववाद की ओर मुंह किए बैठे हैं किंतु इस जगत को स्वीकार कर, नकार कर नहीं।

'आध्यात्मिकता' काव्य के क्षेत्र में ठीक वही अर्थ रखती है जो गांधी की राजनीति में बुनियादी तौर पर उपस्थित है। यानी भौतिक जीव-जगत वाले संसार की अपनी जड़ें व्यापक ब्रह्माण्डीय अस्तित्वों से

सहज संबद्ध है। कविता की यह जो समग्रता वाली दृष्टि है, छायावाद इसी की एक उपलब्धि है। अकारण ही नहीं मुक्तिबोध प्रत्येक लेखक और कवि से उसकी अपनी विश्वदृष्टि की मांग करते हैं। छायावाद, नई कविता की तुलना में निस्संदेह अपनी एक विश्व-दृष्टि लिए हुए था। वहां उदात्त-अनुदात्त, साधारण और असाधारण, वेदना और उल्लास, संघर्ष और मैत्री एक साथ है। वहां किसी भौतिक का निषेध नहीं है। यह और बात है कि मुक्तिबोध ने उसे अपने आग्रहों के चलते रहस्यवाद कह नकार डाला। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में वे आंसू जैसे ठेठ प्रेम-विरह के काव्य को रहस्यवादी माने बैठे हैं। तब रहस्यवाद संबंधी उनकी अवधारणा और समझ पर भी संदेह उठने लगता है।

पं. नंददुलारे वाजपेयी जिन गंभीर मानव-संवेदनाओं के साथ छायावाद को जोड़कर देख रहे थे उसमें सर्वसाधारण के सुख-दुख की पैठाइश थी। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया भी पर इसे हम तभी महसूस कर पाएंगे जब हम छायावादी कविता के साथ उसके समूचे सर्जना-विश्व का अध्ययन करें। यों छायावाद संबंधी मुक्तिबोध के आरोपों का उत्तर दूसरे मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा ने 'निराला की साहित्य-साधना' में दे रखा है। उन्होंने ही उसी पुस्तक के तीसरे भाग में यह पंक्ति भी रेखांकित की है, "विश्वविद्यालय के भीतर नंददुलारे वाजपेयी और बाहर जयशंकर प्रसाद रूढ़िवाद के खिलाफ इन दोनों का संयुक्त मोर्चा हिंदी साहित्य की रोचक कहानी है। छायावाद के इतिहास में वाजपेयीजी की भूमिका एक जुझारू और पक्षधर आलोचक की है। ('निराला की साहित्य साधना', तीन, पृष्ठ 62-63)

सब जानते हैं कि छायावाद उत्तर मध्यकालीन रीति काव्य से, खासतौर से उसकी काव्य-दृष्टि से असहमतियों के ढेर सारे बिंदु लेकर आया था। अगर सौंदर्य और प्रेम के अनुभव-क्षेत्रों को ही उदाहरण के तौर पर लें तो तीनों- प्रसाद, निराला और पंत की कविता में अभिजात सामंती भाव की जगह स्त्री-पुरुष की समानता के भावों का सौंदर्य देखा जा सकता है। वह चाहे 'आंसू' हो या 'ग्रंथि'। प्रसाद के 'आंसू' में प्रेमिका 'पावनतन' लिए हुए है। वह सिर्फ एक भोग्यवस्तु नहीं है। 'आंसू' और 'उच्छवास' जैसी पंत की कविताओं में "तुम्हारे छूने में था प्राण/संग में पावने गंगा-स्नान/त्रिवेणी की लहरों का गान" जैसी कविताओं में इस प्रेम दृष्टि का अनुमान ही नहीं अनुभव भी किया जा सकता है। फिर प्रेम की जो गहराइयां इन कविताओं में हैं वे उसे एक ऐसे आकाश की ओर ले जाती हैं जो उदात्त है।

छायावादी सौंदर्य-दृष्टि का तो कहना ही क्या। कविता अगर हमारे चित्त का परिष्कार करती है तो समूची बीसवीं सदी की हिंदी कविता में वह अद्वितीय और अतुलनीय है। प्रसाद का 'प्रेम पथिक', 'झरना' और उनका 'आंसू'। पंत का 'ग्रंथि', निराला की अनेक कविताएं जिनमें 'वासना की मुक्ति मुक्ता त्याग में वाणी' जैसी पंक्तियां पाखंडपूर्ण आध्यात्मिकता की रहस्यात्मक पंक्तियां नहीं, ठेठ भौतिक जीवन के निश्छल और पवित्र भावों का उदाहरण बन जाती हैं। कबीर आदि कवियों के यहां नारी जाति को लेकर जो भाव हैं उनके ठीक विपरीत वह श्रद्धा और विश्वास की मूर्ति है, जीवन का अमृत-रस तो वही है अन्यथा 'कामायनी' में कवि क्यों लिखता, "पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुंदर समतल में।" प्रसाद के श्रद्धा और 'इड़ा' जैसे स्त्री-चरित्रों को आज के स्त्री-विमर्श वाले फैशनबाज समय में खोजें तो पाना मुश्किल होगा। प्रसाद ही तो हैं जो 'तितली' या 'मधुलिका' जैसे चरित्रों के स्रष्टा हैं। निराला के 'तुलसीदास' में रत्नावली का जो प्रेरक व्यक्तित्व है वह अपनी जगह।

कहना सिर्फ इतना है कि नारी संबंधी हमारी दृष्टि को बदलने में छायावाद की भूमिका युगांतरकारी है। कुछेक लोग जब उसे वायवीय कहते हैं तब उनके काव्य-विवेक पर रहम ही आता है। कुछेक सनके हुए लोग जैसे-तैसे पा गए मार्क्सवादी पदों को आधार बना उसे गई-बीती सामंती

चेतना और संस्कारों से जोड़कर निहाल हो रहे हैं तो होते रहें। साहित्य की परीक्षा और मूल्यांकन के प्राथमिक औजार साहित्यिक कृतियों में ही रहते हैं किसी शास्त्र-विशेष, वाद या विचारधारा वाली किताबों में नहीं। मुक्तिबोध ठीक ही लिखते हैं, “सिद्धांत जीवन के आंतरिक और बाह्य तथ्यों का स्थान नहीं ले सकता वस्तुतः वह स्थिति के लिए उन्हीं पर अवलंबित है (रचनावली : पांच, पृष्ठ 86)। पुराने आचार्यों ने तो कहा ही है कि काव्य सीखना है तो किसी शास्त्र-पंडित के पास मत जाना। छायावाद भी कभी-कभी ऐसे शास्त्र महंतों के पाले पड़ा ही। अब भी ऐसे वस्स युवा महंत हैं ही जबकि सर्जना का व्यापार उतना दो और दो चार वाला नहीं है जितना कुछेक आलोचकीय दृष्टियों में दिखाई देता है।

छायावाद को या हिंदी कविता की इस स्वच्छंदतावादी चेतना को हम अंग्रेजी के रोमांटिक आंदोलन का प्रभाव नहीं कह सकते। रामविलास शर्मा ठीक ही कहते हैं कि हिंदी जाति का अपना नवजागरण था जिसकी जड़ें भक्तिकालीन काव्य में थीं। अठारह सौ सत्तावन के स्वतंत्रता संग्राम में तो थीं ही। फिर हिंदी पट्टी में फैले सुधारवादी और अनेक अर्थों में क्रांतिकारी सामाजिक आंदोलन आर्य समाज में थी। फिर यह भी नहीं सोचा जा सकता कि हिंदी पट्टी वाले लोग चारों ओर से अपनी आंखें मूंद लें। इसलिए यह कहना कि छायावाद बंगला काव्य का अनुकरण है इसलिए निराधार है कि हिंदी समाज की अपनी चेतना और चेतनाजीवी अगर न होते तो फिर प्रेमचंद को भी शरतचंद्र का हिंदी संस्करण क्यों नहीं कहना चाहिए? पर दोनों की किस्म अलग है। हां, रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य विवेकानंद की दृष्टि ने छायावादियों का ही क्यों समूची हिंदी पट्टी को कुछेक अंशों में छुआ पर दयानंद के विचारों का अपना असर था जो निराला में तो दिखता ही है, प्रसाद के यहां भी किंचित आलोचनात्मक भांगिमा के साथ दिखता है।

इस संदर्भ में जब हम स्वच्छंदतावाद की अंतरात्मा पर विचार करते हैं तब काव्य-व्यवहार के स्तर पर यह कह सकते हैं कि यह तमाम स्थापित और लगभग जड़ हो चली लोकमर्यादाओं जिनमें जीवन से लेकर साहित्य और कला के क्षेत्र आते हैं, के प्रति एक विद्रोह-वाणी है। न केवल विद्रोह-वाणी है बल्कि समय और जीवन को व्यापक मानवीय अनुभवों और सपनों की अभिव्यक्ति है। निराला जैसे कवि तभी कह पाते हैं, “आज नहीं है मुझे और कुछ चाह/अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू/प्रिय छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह।”

जीवन का एक घिसी-पिटी लीक बन जाना प्रकारांतर से जीवन का निषेध है, उपहास तो है ही। स्वच्छंदतावाद इसी का कारगर उपचार है। ‘परिमल’ की भूमिका में कवि निराला ने प्रस्ताव ही किया—“जाति की मुक्तिचेतना के साथ कविता की भी मुक्ति होनी चाहिए—पुराने भाषा-संस्कारों और रूढ़ होती जाती काव्य-लयों और उन्हें धारण करने वाले छंदों से।” पंत ने भी लिखा, “कविता हमारे प्राणों का संगीत है और छंद हृत्कंपन। (‘पल्लव’ की भूमिका से)। किंतु यह बात विशेष गौर करने लायक है कि किसी भी छायावादी कवि ने तुकांत व्यवस्था और छंद-संगीत के प्रति वैसी बेरहमी और उपेक्षा नहीं बरती जैसे अपने ही रीतिवादी पैटर्न में आज की कविता और कवि फंस गए हैं। यह भाषा-संगीत और जातीय कविता दोनों का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। संभवतः यह नवरीतिवाद विषय-चयन में अत्यंत उदार और उन्मुक्त होकर भी जैसा आत्मविहार कर रहा है उसमें भयावह आत्ममुग्धता तो है पर लोकविहार और लोकविमुग्धता कहां है? अभिव्यक्ति की यह स्वतंत्रता लोक की रुचियों और अपेक्षाओं के प्रति क्या किंचित भी सजग और उत्तरदायी नहीं है?

छायावाद ने चाहे हमें ‘बादल-राग’ दिया, ‘राम की शक्तिपूजा’, ‘तुलसीदास’, ‘लहर’ और ‘कामायनी’ या फिर ‘पल्लव’ जैसी काव्य-कृतियां दीं सब की सब अधिकांश सम्मोहक छंद-संगीत लिए हुए हैं। ये केवल

उस युग की नहीं, हमारे अपने युग की भी कृतियां हैं। इनकी श्रेष्ठता पर प्रश्न-चिन्ह लगाया नहीं जा सकता। अज्ञेय तो निराला के ‘तुलसीदास’ की काव्य-व्यवस्था पर मुग्ध हैं। शमशेर निराला से सीखते हैं। मुक्तिबोध की निगाह बार-बार प्रसाद की असाधारण प्रतिभा की ओर जाती है।

मेरे इस छायावाद संबंधी चिंतन और विवेचन में जो एक सवाल जानबूझकर अलग विचार करने के लिए छोड़ दिया गया है वह रहस्यवाद और इस संदर्भ में महादेवी वर्मा का काव्य है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि महादेवी ही अकेली इस रहस्यवाद की प्रतिनिधि हैं। सच्चाई तो यह कि दार्शनिक विचारों का नवातार जब कविता में साकार हो उठता है तब वह अपने-आप रहस्यात्मक हो उठती है। यह और भी श्रेष्ठ होता है जब कविता किसी उच्चतर जीवन-सार की व्याकुल खोज में किसी एक दर्शन की ऊंचाइयां छूने लगती है। शुक्लजी ठीक ही कहते हैं कि दर्शन में जो अद्वैतवाद है, काव्य में वही रहस्यवाद है।

बीसवीं सदी के आरंभिक चरणों में भी जो कविता आई उसका संबंध इतने महत्तर और महान कवि-व्यक्तित्वों से था कि अपनी विरल प्रतिभा के साथ वे एक विरल जीवन-दृष्टि लेकर आए थे। प्रसाद और निराला की दार्शनिक रुझानें तो सुस्पष्ट हैं। पंत भी यदा-कदा उस ओर जाते हैं किंतु महादेवी तो उसे कई-कई प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त करतीं और आजमाती दिखाई देती हैं। मैं जब निराला की ‘तुम और मैं’ की ये पक्तियां पढ़ता हूँ—

तुम नंदन-वन-धन-विटप
और मैं सुख-शीतल-तल-शाखा
तुम प्राण और मैं काया....

तो ऐसा महसूस होता है जैसे संदेहों से भरे हुए विवेकानंद की जिज्ञासाओं का गुरु रामकृष्ण परमहंस स्नेहसिक्त समाधान कर रहे हों। भौतिक विश्व और ब्रह्म के इस रिश्ते की तलाश निर्धारण और संबंधदारियों का स्थापन ही तो कविता का रहस्यवाद है।

काव्य में रहस्यवाद की सत्ता होनी चाहिए अथवा नहीं, फिर आधुनिक हिंदी कविता में उसका अवतरण कितना प्रामाणिक है, कितना संगत—इन प्रश्नों को लेकर आचार्य शुक्ल के दृढ़ मत का अस्वीकार करते प्रसाद और निराला दोनों ही दिखाई देते हैं। प्रसादजी ने तो शुक्लजी के महाप्रबंध ‘काव्य में रहस्यवाद’ का प्रत्युत्ता सा देते हुए ‘रहस्यवाद’ शीर्षक निबंध ही लिखा। उनका अभिमत है कि यह कोई बाहरी वस्तु नहीं। शुक्लजी पर हमलावर से होते कवि प्रसाद लिखते हैं, “भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद को स्थान न देने का एक मुख्य कारण है। ऐसे आलोचकों के मन में एक तरह की झुंझलाहट है। रहस्यवाद के आनंदपथ को कल्पित भारतीयोचित विवेक में सम्मिलित कर लेने से आदर्शवाद का ढांचा ढीला पड़ जाता है। इसलिए वे इस बात से डरते हैं कि जीवन में यथार्थ वस्तु आनंद है, ज्ञान से वा अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है।” प्रसादजी की मुख्य उपपत्ति है कि “आनंद-भावना, प्रिय कल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आज की जातिगत निर्वीर्यता के कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर, यह सेमेटिक है, कहकर संतोष कर लिया जाता है।

(‘काव्य कला तथा अन्य निबंध’ जयशंकर प्रसाद, पृ. 72)

काशी हिंदू विश्वविद्यालय में तो अपनी युवावस्था में ‘निराला’ ने वहां की आचार्य मंडली को इसीलिए तीसरे दर्जे का विद्यार्थी तक कह डाला था अन्यथा रहस्यवादी कविता उनकी भी समझ में आ जाती। निराला अपने इस वक्तव्य में कितने सही थे, कहना कठिन है पर विश्वविद्यालयीन प्रोफेसरों की बौद्धिकता और सद्बुद्धता का स्तर तो आज और भी बदतर है। निस्संदेह उस समय का आचार्य-समाज ऐसा तो नहीं था। तब भी कवि-प्रतिभा तो कवि-प्रतिभा ही है।

रहस्यवाद की यह प्रवृत्ति छायावादियों की एक प्रवृत्ति तो थी जिसमें ब्रह्म और भौतिक जगत के मधुरतम रिश्तों और दोनों की मूलभूत तात्त्विक एकता की अनुभूति का बोध किया जा सकता है। महादेवी ने इसे ही अपनी कविता का मूल आधार बनाया जिसके आवरण ने उन्होंने अपने व्यक्ति के निजी भावों की भी अभिव्यक्ति की। विश्व से सघन तादात्म्य और उसी में किसी प्रेमिका की लिपि उनकी कविता का मधुरतम चरित्र है। वे भी तो लिखती ही हैं, “बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।” इससे भी आगे जाकर उनकी कविता है, “तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या?”

यह जरूर विचारणीय है कि महादेवी वृहत्तर छायावाद में नहीं ही आतीं जिसमें वे तीनों कवि आते हैं क्योंकि रहस्यवाद छायावाद की एक प्रवृत्ति भर है। अन्यथा छायावाद परंपरागत भारतीयता का एक नवक्रांतिकारी संस्करण है, निस्संदेह जिसके मूल में वह अद्वैतवादी दृष्टि है जो समग्र सृष्टि की अविच्छिन्न एकता और अंतर्निहित पारस्परिकता की सच्चाई लिए है। इसी दृष्टि के चलते वह उस व्यापक मानव-बोध की कविता है, जहां समाज के कामचलाऊ, व्यावहारिक संबंध और बंधन बहुत पीछे छूट जाते हैं। वहां एक निथरी हुई सुस्पष्ट लोकदृष्टि सक्रिय हो उठती है जिसमें ऊंच-नीच, जाति-पाति, वर्ण-व्यवस्था और जड़ सामाजिकता के कुसंस्कार बेमानी हो उठते हैं। बच रहते हैं वे संबंध जो मनुष्य और आस-पास के अन्य जीव-जगत और प्रकृति से होते हैं।

इसलिए छायावाद में जितना जन-जीवन है उतना ही प्रकृति-लोक भी। फिर वह निजता को धुरी बना देखा गया विश्व-दर्शन नहीं है। विपरीत इसके विश्वमय होकर विश्व रूप का साक्षात्कार है।

नए जीवन-युग और काव्य की अपनी चुनौतियां होती हैं, सचेत और सजग कवि-मानस उसे अपने भावाचरण के मार्फत उत्तर देता है पर गंभीर और प्रज्ञा-समृद्ध कविता सतही स्तरों पर न तो संवाद-उन्मुख होती है, न कैसी भी हड़बड़ी प्रदर्शित करती है। जिस महान राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन ने समूचे भारतीय जन-मानस को आकुल-व्याकुल कर रखा था उसकी तात्कालिक प्रतिक्रियाएं हमें अपनी राष्ट्रीय काव्यधारा वाली कविता में मिलती हैं पर युगानुरूप बदलाव और सामाजिक नवनिर्माण की शायद ही कोई परिकल्पना उस राष्ट्रीय कविता में हो। पर एक और भी राष्ट्रीय लेखन और कविता इस देश के चित्त में पैठ बनाए हुए है जिसमें वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास मध्यकाल के संत और भक्त कवि आते हैं। कालिदास के ‘मेघदूत’ पर मुग्ध हो लिखते हुए आचार्य शुक्ल ने उसे सबसे भावुक देशप्रेमी की वाणी कहा है। वहां समूचा देश अपनी भरपूर विविधताओं और समृद्धि के साथ एक जीवित छवि-दीर्घा बना हुआ है जबकि है वह एक प्रेम-काव्य। तब राष्ट्रीयता क्या है?

इसका उत्तर-सा देते हुए आचार्य नंददुलारे वाजपेयी अपनी पुस्तक ‘राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध’ में कहते हैं—

“राष्ट्रीयता या जातीयता से हमारा आशय केवल जातीय बाह्य गुणों और विशेषताओं से नहीं है, केवल उन लक्षणों से नहीं है जिन्हें हम परंपरा के नाम पर दोहराते चले आते हैं, प्रत्यक्ष राष्ट्र या जाति के उस वास्तविक, सक्रिय और गंभीर जीवन से, जो एक साथ मानवीय और विशिष्ट ऐतिहासिक अनुभवों तथा जातीय दृष्टि से युक्त होने के कारण ही राष्ट्रीय है। इसीलिए वह एक साथ राष्ट्रीय और सार्वभौमत्व की सीमाओं का स्पर्श करता है।”

छायावाद को द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया में आया या फिर स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह न कहते हुए वे कहते हैं, “छायावाद वस्तुतः हरिश्चंद्र (भारतेंदु) और द्विवेदी युग की राष्ट्रीय विकास भूमियों को अधिक गहराई, उर्वरता और प्रसार देता है।” वहां एक नई मानववादी विश्वचेतना का भारतीय प्रति रूप है। इसलिए रामविलास शर्मा सत्तर के दशक में आलोचना (सं. नामवर सिंह) में छायावादी काव्य पर अपना अभिमत देते

हुए कहते हैं, “छायावाद का विरोध भारतीय संस्कृति का विरोध है। अब जो लोग संस्कृति से अभिप्राय किसी धर्म और जाति के कर्मकांडपरक जीवन के सतही और अर्थशून्य रूपों से लेते हैं उन्हें तो समझाया भी नहीं जा सकता। जरूरत भी शायद नहीं है।”

छायावाद की प्राणभूत राष्ट्रीयता को उदाहरण विशेष से समझने के लिए हमें थोड़ी देर के लिए साहित्य से बाहर निकल गांधी के ‘हिंद स्वराज’ की ओर जाना पड़ेगा। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की वह एक दुर्लभ राष्ट्रीय कृति है जिसमें भारत और पश्चिम की सभ्यता पर बहुत कुछ कहा गया है। यह भी कि पश्चिम की सभ्यता राक्षसी या शैतानी है। यानी भोगवादी सभ्यता। यह जो अपनी चरम स्थितियों में अन्यो के लिए प्राणलेवा साबित होती है।

प्रसाद इसी चरम भोगवाद के प्रश्न को ‘कामायनी’ में उठाते हुए एक ऐसे संतुलित और समरस जीवन का स्वप्न रचते हैं जिसमें न तो भोग का अस्वीकार है न तप या वैराग्य का गौरव गान। यह तो कामायनी की ही पंक्ति है— ‘तप नहीं केवल जीवन-सत्य’। इस संदर्भ में अधिक देखना चाहें तो प्रसाद की अन्य कई रचनाएं, नाटक से लेकर कहानियों तक प्रचुर हैं। निराला की परिमल, गीतिका से लेकर बेला, नए पत्ते तक फैली हैं।

छायावाद वस्तुतः ऐसी गंभीर जातीय चेतना और सपनों से मंडित कविता है जिसमें द्विवेदी युग के ऐतिहासिक प्रश्नों— ‘हम कौन थे’ का सांस्कृतिक और दार्शनिक स्तरों पर जवाब है। इसीलिए मैं मानता हूँ छायावाद द्विवेदी युग का पूरक ही नहीं, उसकी चेतना-यात्रा का शीर्ष चरण है।

निबंध शायद अनावश्यक विस्तार में निबंध होता चला गया हो तब भी यह कहने की जरूरत है कि प्रसाद और निराला को हटकर तो बीसवीं सदी की हिंदी कविता की चर्चा ही नहीं हो पाएगी। प्रसाद की सूक्ष्म, गंभीर और रम्य वाणी, उनकी तत्त्ववेधी वस्तु-दृष्टि और सांस्कृतिक चेतना, दार्शनिक उदात्तता का सौंदर्य अपनी जगह और नवनिर्माणकारी स्फुरणकारी इतिहास-बोध अपनी जगह। प्रसाद को पढ़ते हुए हम निरंतर कई-कई स्तरों पर समृद्ध और सचेत होते जाते हैं, साथ ही सामान्य सहज लोकजीवन के प्रति हमारा होना और अधिक तीव्र और सघन होता चलता है। वस्तुतः वे सृष्टि के रहस्यों के राग-बोध के कवि हैं। आध्यात्मिक चेतना के कवि होकर भी वे जातीय पौरुष और तेज के सौंदर्य के कवि हैं। उनकी भाषा संगीतमयी और काव्य-लयें शास्त्र और लोक की चाशनी में डूबी हुई हैं।

शास्त्रीय अर्थों में वे ‘सिद्ध सारस्वत’ प्रतिभा हैं जिनकी सृष्टि आद्योपांत मौलिक, अपूर्व एवं अभिनव है। जिस ‘भावानुभूत ज्ञान’ को मुक्तिबोध कला का विषय मानते हैं, प्रसाद उसके सम्राट हैं।

छायावाद के दूसरे शीर्ष मुकुट निराला के व्यक्तित्व में गूँज के अप्रत्याशित विलक्षणता और स्वच्छंदता है। वे असाधारणों में भी विरल हैं। आधुनिक हिंदी के ढेर सारे दिग्गज माने जाने वाले कवि निराला से प्रेरणा लेते हैं। कइयों का मानना है कि भारत की काव्य-चेतना के वे अधुनातन संस्करण हैं। भारत की मुक्ति-कामना और उसकी स्वाभाविक स्वच्छंदता का सौंदर्य ही नहीं, उसकी भूली-बिसरी चेतना, शक्तियां और उनसे फूटता आत्मदर्प और तेज निराला की कविता में लोक से अभिजात तक का स्वर लिए एक साथ उपस्थित है। वे हमें कई-कई स्तरों पर पुकारते, साथ ही प्रतिपल याद दिलाते चलते हैं कि तुम्हारे पीछे कविता की एक सुदीर्घ विरासत है। उससे मुंह चुराना कहीं तुम्हें कवि स्तर से ही च्युत न कर दे। छायावाद में ‘दिए हैं मैंने जगत को फूल-फल/किया है अपनी प्रभा से चकित चल’ कहने वाले केवल निराला हैं। वे ही हैं जिनकी कविता में भोग और योग, राग और विराग साथ-साथ मौजूद हैं।

छंदों और भावों का अपरिचित-संसार लिए निराला की काव्य-संवेदना का आकाश किसी महाकवि सा व्यापक और अछोर है। ‘कामायनी’

लिखकर प्रसाद तो तकनीकी अर्थों में महाकवि हो गए लेकिन निराला का महाकवित्व इसके बगैर भी लोकमान्य है। जैसे कि कबीर, सूर, मीरा आदि प्रबंधकार न होकर हमारे महान स्रष्टा हैं, निराला की गणना भी इसी परंपरा में सुनिश्चित है।

यह भी कहना मुझे जरूरी लग रहा है कि प्रसाद और निराला अपनी-अपनी गहराई एवं व्यापकता की दृष्टि से ऐसा जीवन रचते हैं जिसे हम भारत का सघन संश्लिष्ट और बहुधर्मी, बहुरंगी जीवन कहते हैं। वे कविता की धरती भी हैं, आकाश भी।

प्रसाद की अनुभूति के संगीत से सराबोर कल्पनाएं निराला की कला-बोध प्रसूत कल्पनाओं से यद्यपि भिन्न हैं तब भी दोनों के स्वप्नबोध में जातीय नवजागरण का सौंदर्य समान है।

छायावादी 'वृहत्रयी' के तीसरे कवि पंत पहले तो छायावाद के कोमल-कांत व्यक्तित्व वाले सुकुमार कवि कहे जाते रहे हैं। प्रकृति उनकी शुरुआती सहचरी रही। धीरे-धीरे उनकी कल्पनाएं अपने स्वप्निल कैशोर्य को पार कर जैसे ही प्रौढ़ता की ओर कदम रखने लगी, विचारों का अतिशय विहार उनको एक नए रूप में रचने लगा। उनकी अपनी सोच के अनुसार वे न केवल हिंदी कविता बल्कि नए भारत और नए विश्व की तलाश में गांधी से लेकर मार्क्स तथा अरविंद तक की यात्रा में शामिल होते गए। सहज स्वाभाविक काव्य पर विचारों का दुर्बल बोझ डालने के चलते उनके काव्य-प्रेमी छिटकने और आलोचक रूक्ष एवं कठोर होते गए। पंत जैसे कल्पनाजीवी कवि के लिए खुद तब अपनी केंद्रीय काव्य-भूमि ढूँढ़नी मुश्किल होती गई तब भी निसर्गजात काव्य-प्रतिभा और प्रांजल पदावली उनको यत्किंचित सम्हालने में लगी रही। पर इसे क्या कहा जाए कि 'लोकायतन' जैसा भारी-भरकम उनका प्रबंध-काव्य सहृदयों और आलोचकों का ध्यान नहीं ही खींच पाया।

निर्मम हो कहा जाए तो पंत जैसी सहज उर्वर प्रतिभा ने नए-नए विचारों के आकर्षण में अपने व्यक्तित्व को बिखेरा ही ज्यादा और वे उस उदात्तता को छू नहीं पाए जिसकी उम्मीद हिंदी-संसार कर रहा था। तब भी वीणा, पल्लव, ग्रंथि, गुंजन और अन्य कई कृतियां-ग्राम्या, कला और

बूढ़ा चांद उनकी प्रतिभा की चिरस्मारक बनी रहेंगी। उन्होंने हिंदी भाषा और समाज को कतिपय महत्वपूर्ण काव्य-पदावलियां दी हैं और अपनी अद्वितीय काव्य भाषा के लिए वे स्मरणीय बने रहेंगे। हिंदी कविता में कल्पना का व्यापार और प्रसार, उसकी स्वच्छंद उड़ानों वाले पंखों की चर्चा बनी ही रहेगी।

काश! वे अपने मूल स्वभाव का ही क्रमिक विकास करते पर यह हो कहां पाया!

छायावाद के अंतर्गत आने वाली या कहें उसके समापन काल की कवयित्री महादेवी वर्मा सचमुच छायावाद की भाव-गोपनीयता की सबसे सुरिली, सजी-धजी और गीत कविता की नख से शिख तक की परिष्कृत आवाज़ हैं। उनके अधिकांश गीत रहस्यवाद के कैप्सूल में किसी मधुरतम प्रियतम के मिलन और विछोह की कहानी है। लौकिक से लेकर अलौकिक सोपानों तक फैली उनकी काव्य-यात्रा अनेकानेक प्रतीकों और व्यंजनाओं से भरी हुई है। यद्यपि उनके यहां जो पहला चरण है वह 'यामा' और दूसरा 'दीपशिखा' का है। रातभर की यात्रा वे जिस दीपक की मदद से करती हैं वही उनकी कविता का उदात्त क्षितिज है।

अन्य साथी छायावादियों की तरह वे भी लोक सजग और प्रेम और करुणा से दीप्त हैं। गद्य उनकी कविता से स्वतंत्र व्यक्तित्व लिए हुए है। संस्मरण और रेखाचित्रों में वे जिस अद्वितीय और लोक सामान्य जीवन और व्यक्तित्व को संजोने योग्य बनाती हैं उससे उनके सर्जक व्यक्तित्व को पूर्णता प्राप्त होती है। उनकी क्लम और उनकी वाणी छायावादी युग के लिए स्त्री सत्ता की गरिमा की ओर से एक ऐसी संगीतमयी वाणी का ऐतिहासिक उपहार है जिसे हिंदी का संसार अपनी थाती के रूप में, चिर स्मृति के रूप में संजो कर रखना चाहेगा।

अंत में यह कहना जरूरी लग रहा है कि राजनीति में गांधी और आधुनिक हिंदी कविता में छायावाद बीसवीं सदी की ओर से भारतीय संस्कृति और राजनीति के लिए दुर्लभ उपहार हैं। इनकी उपेक्षा कर शायद हम अपनी इस देशज सोच और सौंदर्य को भुला बैठेंगे जिसके आधार पर रोज-रोज ग्लोबल होते जाते विश्व में इस भारत की पहचान होगी। □

आजकल का ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका-----का □ एक वर्ष (230 रुपये)

□ दो वर्ष (430 रुपये) □ तीन वर्ष (610 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूं।

शुल्क का रुपये-----डिमांड ड्राफ्ट

-----दिनांक-----संलग्न है।

हस्ताक्षर-----

नाम

:-----

पता

:-----

पिन : □□□□□□

● कृपया अपना चंदा डी.डी. अपर महा निदेशक (प्रभारी), प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के नाम बनाएं।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : बाल भारती, आजकल (उर्दू), कुरुक्षेत्र (हिंदी व अंग्रेजी), योजना (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

उप निदेशक (प्रसार)

प्रकाशन विभाग, कमरा नं 48-53, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003



संपर्क : ए-563, पालम विहार,
गुरुग्राम-122017, मो. 9814658098

छायावाद के बहाने आधुनिक हिंदी साहित्य की आत्मा की तलाश

विनोद शाही

छायावाद की समाज-सांस्कृतिक अंतर्वस्तु की तलाश अब हमें उस जगह ले आई है, जहां से हम इस काव्य की साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष चेतना को इसकी मुक्ति-कामना के रूप में पहचान पा रहे हैं। रचनात्मक साहित्य को उसके सामाजिक सारतत्त्व के लिए डी-कोड करना एक मुश्किल काम होता है। भाषा के परदे को उठा कर उस पार झांकने की कोशिश जोखिमभरी जरूर होती है परंतु उसके परिणाम बहुत से भ्रमों के निराकरण में मददगार हो जाते हैं। ऐसे भ्रम कम नहीं हैं। छायावाद में वेदांत की भूमिका को लेकर उसके बुर्जुआ राष्ट्रवादी व यथार्थ विरोधी होने का भ्रम उनमें से एक है। अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की तर्ज पर उनके प्रकृति में पलायन और स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोहों की चर्चा दूसरी तरह का भ्रम है। छायावाद के मूलतः रोमांटिक (स्वच्छंदतावादी) या रहस्यवादी होने का भ्रम तीसरी तरह का है और इसकी विदेशीयता को खारिज करते हुए इसे संस्कृत काव्यशास्त्रीय परंपरा से जोड़ने की कोशिशों का भ्रम चौथी तरह का। यह सूची और आगे बढ़ाई जा सकती है— कुछ गौण भ्रमों को धारणाओं के रूप में पेश करने की कोशिशों के रूप में। मसलन छायावादी रहस्यवाद को कभी भावात्मक तो कभी लौकिक रहस्यवाद का नाम देने अथवा इसकी सामाजिक अंतर्वस्तु को मानवीय और सांस्कृतिक कहकर सीमित कर देने के रूप में।

छायावाद का वेदांत के संदर्भ में पुनर्मूल्यांकन आज बेहद प्रासंगिक हो उठा है। इसकी वजह है छायावाद के विचारधारात्मक स्रोतों की बात करते हुए हम आज तक बहुत-सी धाराओं की एक साथ चर्चा करने की आदत का शिकार रहे हैं। इस लिहाज से देखा जाए तो ईसाई संतों के छायाभास (फेंटैज्मेटा), आध्यात्मिक प्रतीकवाद, कबीर के ज्ञानवाद, सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, वेदांत के प्रतिबिंबवाद, ध्वनि व वक्राकृतिवाद, शैवदर्शन, अंग्रेजी रोमैंटिसिज़्म, पराविद्या, अद्वैतवाद, लौकिक प्रेम, गांधीवाद, विवेकानंद व टैगोर आदि की समन्वित चर्चा होती रही है जबकि होना यह चाहिए था कि हम उस मूलदृष्टि की तलाश करते, जिसके संदर्भ में ये सभी प्रभाव-स्रोत शकल बदलकर प्रासंगिक होकर छायावादी चेतना का हिस्सा हो गए।

जिस तरह पश्चिमी रोमैंटिसिज़्म को ज्ञानोदय (एनलाइटनमेंट) के माहौल की रचनात्मक परिणति माना जाता है, उसी तरह छायावाद को नववेदांत वाले भारतीय पुनर्जागरण का परिणाम माना जा सकता है। और जैसे रोमैंटिसिज़्म के महानतम प्रेरक के रूप में रूसो की जगह बनती है, उसी तरह छायावाद के लिए विवेकानंद की। दरअसल होता यह है कि ज्ञान-दर्शन की जो धाराएं बनती-बिगड़ती-विकसित होती समय के साथ हम तक आ रही होती हैं, वे हमारे निकटवर्ती विवेक-रूप (विचारधारा) की छलनी में से छनकर हम तक आती हैं और उसी संदर्भ में उनका स्वरूप भी बदलता है। छायावाद के संदर्भ में इस लिहाज से दो प्रेरक-सूत्र नुमायां हो सकते हैं— एक नववेदांत और दूसरा गांधीवाद।

गांधी छायावाद के समकालीन हैं, बल्कि यूं कहें कि गांधी छायावादी युग की देन हैं और छायावाद गांधी युग की तो भी थोड़ी अति कथनी को छोड़कर यह सही होगा। विवेकानंद इस युगस्थिति से पहले के हैं। बीसवीं शती के पहले दशक में वे अपनी सरगर्मी के शिखर पर थे। 1903-04 में उनकी अमरीका यात्राएं एक विजय-अभियान की शकल में प्रचारित हो चुकी थीं। गांधी का प्रवेश दूसरे दशक के अंत के आसपास है। तीसरे दशक के आरंभ में (1920-22) छायावाद के सूत्रपात की बात होने लगती है। पश्चिम (यूरोप) में रोमैंटिसिज़्म 19वीं शती के आरंभ की घटना है। 1796-98 में रूसो अपनी सरगर्मी के शिखर पर थे। सामंतवाद की मजबूत जकड़ समाज में टूट रही थी परंतु फ्रांस के मुकाबले इंग्लैंड में जनतांत्रिकीकरण की प्रक्रिया ज्यादा तेज़ थी। रूसो इस संक्रमण को तेज़ करने के लिए 'निजी संपत्ति' से जुड़ी पतनशीलता को बेनकाब कर रहे थे और प्रकृति की ओर मुड़ने की सलाह में एक नैसर्गिक-आदिम (वर्गहीन) मुक्ति का संदेश गूँथ रहे थे। इंग्लैंड में स्थितियां अधिक माकूल थीं और इसीलिए वहां सबसे बड़ा रचनात्मक स्फोट हुआ— एक के बाद एक चार या पांच महान कवियों के रूप में। वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, कोलरिज अचानक अपने युग परिवेश से उठकर विश्वकवियों के रूप में सामने आ गए। नव-क्लासिकीयता टूट-बिखर गई और स्वच्छंदतावादी मुक्ति का स्वप्न अपने मोहपाश में जकड़ने लगा। यह काव्य-चेतना एक साथ इंग्लैंड, फ्रांस व जर्मनी में फैली। वहां से आई रूस और पोलैंड तक— दुनिया के बाकी मुल्कों की विशेष चर्चा रोमैंटिसिज़्म के संदर्भ में नहीं होती है। एक गौण या सामान्य प्रवृत्ति अथवा धारा के तौर पर यह आठ-दस और मुल्कों में लगभग उसी काल में यानी 1800 से 1850 के दरम्यान दिखाई देती है। इसके बाद इसकी चर्चा लगभग बंद हो जाती है। इंग्लैंड में रोमैंटिसिज़्म के बाद विक्टोरियन काल शुरू हो जाता है। यह मैथ्यू आर्नल्ड और स्कॉट का समय है। इस काल में कविता की नुमायां भूमिका ही दिखाई नहीं देती। इसे वैसे भी 'उपन्यास काल' कहा जाता है। वैसे आर्नल्ड उत्तर-रोमांटिक काल में ही सरगर्म हो गए थे, परंतु उनकी बात चली विक्टोरियन काल में। फिर वहां आया आधुनिक काल। बीसवीं सदी की शुरुआत के साथ इंग्लैंड ही नहीं, पूरी विकसित दुनिया में यानी यूरोप के साथ अमरीका में भी आधुनिक काल के आरंभ होने की चर्चा होने लगती है। विवेकानंद इसी सभ्य, विकसित और आधुनिक विश्व में अपना 'मध्यकालीन लगने वाला' संदेश लेकर दाखिल होते हैं। अमरीका अभिभूत जरूर लगता परंतु यह कहते हुए कि लगता यह है कि कोई बीती हुई दुनिया का महापुरुष अचानक समय-विवेक भूलकर आधुनिक संसार में दाखिल हो गया है। उधर इंग्लैंड में आधुनिक विश्वस्तरीय कवियों, नाटककारों, आलोचकों का पुनः जमघट लगने लगता है। डब्ल्यू.बी. येट्स, टी.एस. इलियट, डी.एच. लॉरेंस, वर्जीनिया वुल्फ, एजरा पाउंड आदि के पीछे-पीछे

नव्य आलोचक, अस्तित्ववादी, आधुनिकतावादी, संरचनावादी, रूपवादी मार्क्सवादी, नवमार्क्सवादी, उत्तर आधुनिकतावादी और अन्यो का एक महान काफ़िला चला आता है, जो आज तक जारी है। इस आधुनिक काल की उदयवेला में एक भारतीय कवि अपनी रोमांटिक चेतना के साथ प्रवेश करता है। नाम है रवीन्द्रनाथ टैगोर। येट्स को यह कवि भा जाता है। वह उसे महान रोमांटिक आंदोलन की आखिरी महत्वपूर्ण कड़ी कहता है। इस तरह यूरोप से लगभग एक सदी बाद भारत रोमांटिक दौर में प्रवेश कर जाता है, जबकि यूरोप और अमरीका जाने कहां से कहां निकल गए हैं। अंग्रेजों की बड़ी कृपा थी, पहली सौगात मिली बंगाल को। बंगाल से होती हुए यह रोमांटिक चेतना बीसवीं सदी के तीसरे दशक में हिंदी में आ जाती है। फिर एक असें तक विकसित विश्व इसका कोई नोटिस नहीं लेता। जरूरत भी नहीं। फिर आता है इस सदी का नौवां और दसवां दशक। अब इंग्लैंड में कॉमनवेलथ स्टडीज में अचानक रुचि जागती है। औपनिवेशिक साहित्य पर चर्चा होती है। कहा जाता है कि भारत समेत तमाम विश्व के उपनिवेशों के साहित्य में एक अलग बात है, एक अलग चेतना के रूप में। यह चेतना क्या है? यह है औपनिवेशिकता विरोधी चेतना; एक ऐसी संघर्ष चेतना, जो परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में इस साहित्य की आत्मा है, इसकी समाज-राजनैतिक अंतर्वस्तु का सारतत्त्व है और इसकी वजह से यह साहित्य उपलब्ध समीक्षा-मॉडलों की पकड़ से बाहर चला जाता है। यह साहित्य न क्लासिकीय है, न नवक्लासिकीय, न रोमांटिक है, न आधुनिकतावादी। यह कहा जा रहा है कि इस साहित्य की आत्मा इसकी यथार्थवादी चेतना में है, परंतु यह यथार्थवाद यांत्रिक अथवा जादुई यथार्थवाद, रोमांटिक यथार्थवाद अथवा समाजवादी यथार्थवाद आदि के मॉडलों से भी पूरी तरह व्याख्यायित नहीं होता क्योंकि यह अनेक तरह के 'अंतर्विरोधों' से ग्रस्त यथार्थवाद है। वैसे छायावाद के एक रूसी विद्वान के अध्ययन में निराला में शैली की तर्ज पर रोमांटिक यथार्थवाद तलाशने की बात भी सामने आई है।

यूरोप व अमरीका द्वारा टैगोर और विवेकानंद को दिए गए संरक्षण या किंचित स्वीकृति के भाव से गुमराह हो जाना ठीक नहीं। यह दिग्भ्रम दो तरह का है, परंतु उसकी चर्चा करने से पहले यह साफ़ कर देना जरूरी है कि यह ज्यादातर बौद्धिक वर्ग में उसकी अकादमिक चर्चाओं में है, तत्कालीन जन में अथवा छायावादी कवियों के काव्य में नहीं (हां, उनकी सिद्धांत चर्चा में अवश्य है)। पहली तरह का दिग्भ्रम राष्ट्रवादियों का है, जो इस संरक्षण को विजय-अहं बनाकर फूल उठते हैं और दूसरा उन मार्क्सवादियों का है, जो इसकी वजह से उन्हें अंग्रेजों का पिट्टू, दलाल आदि घोषित कर उनके महत्व को एकदम खारिज करने की कोशिश करते हैं। इस सोच का एक अतिवादी रूप भी इधर चर्चा में आया है, जो नव-वेदान्तियों को हिंदूवादी घोषित कर उन्हें सांप्रदायिकता फैलाने वाला भारत विभाजन का एक मुख्य कारक बना डालता है। ये तमाम दिग्भ्रम मौजूदा समय में निश्चित समाज-राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के सहायक के रूप में फैलाए गए हैं। उन उद्देश्यों की चर्चा की अपनी अखाड़ेबाजियां हैं, जिनका जिज्ञा इसलिए जरूरी नहीं, क्योंकि वह विषयांतर हो जाएगा। यहां इतना स्पष्टीकरण काफी है कि नव-वेदांत को अंग्रेजों द्वारा दिए संरक्षक की कूटनीति उस समय के लोगों की समझ में आ रही थी। अपनी औपनिवेशिकता से जूझते हुए हम इस कूटनीति की पोल को समझते हुए भी उसे उद्घाटित किए बिना ढोल बजा लिया करते थे। यह हमारी जन-कूटनीति थी। टैगोर को नोबेल पुरस्कार मिला, परंतु उसे आखिरी रोमांटिक कहकर अतीत-पुरुष बनाने की साजिश भी की गई। विवेकानंद के लिए तालियां पीटी गईं, परंतु उसे मध्यकालीन भी कहा गया। यह सब हमारी मेधा के शिखर को आधुनिक समाज में अग्रासंगिक या पीछे छूटी हुई सिद्ध करने से भी जुड़ा था। ऐसा करके अंग्रेज नव-वेदांत और नई सांस्कृतिक चेतना के ज़रिए भारतीय जन की अस्मिता व गरिमा के बुलंद होने की संभावना को कुंद करना चाहते थे, ताकि वह उनसे आंख से आंख मिलाकर देखने और संघर्षशील होने की स्थिति तक न पहुंच पाए। गांधी आगे चलकर यही करने वाले थे।

छायावाद ने भी नव-वेदांत को इसी लिहाज से रूपांतरित करते हुए ग्रहण किया। वेदांत में 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' की जो धारणा ऊपरी तौर पर यथार्थ-विरोधी लगती है, उसे छायावाद नव-वेदांत के माध्यम से जब ग्रहण करता है तो वह उसे उसके यथार्थपरक वैज्ञानिक संघर्षशील रूप में ही ग्रहण करता है। विवेकानंद स्पष्ट करते हैं कि जगत का मिथ्यात्व जगत-वास्तव का मिथ्यात्व नहीं, जगत की अवैज्ञानिक (अविवेकपूर्ण मोहग्रस्त) समझ का मिथ्यात्व मात्र है। निराला विवेकानंद को शेष कवियों की तुलना में सबसे करीबी होकर ग्रहण करते हैं। उनके 'जागो फिर एक बार' में अगर जगत या माया का मिथ्यात्व कुछ है तो वह है हमारी बेहोशी का, कायरता का, स्वयं को मेष से भी बदतर मानने का (मिथ्या) खोखलापन। और वास्तव क्या है, वह है हमारा ब्रह्मत्व जिसके सामने यह पूरा विश्व-भार पदरज से ज्यादा नहीं है। यह है हमारी साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षशील मानसिकता की नव-वेदांतमय अभिव्यक्ति।

विचारधारा अथवा दर्शन की साहित्य में मौजूदगी रचना को उसकी समग्रता में डी-कोड किए बिना ठीक से पकड़ी नहीं जा सकती। आमतौर पर बेजान रचनाओं को विचारधारा की अभिव्यक्ति के प्रमाण के तौर पर चुन लिया जाता है। संप्राण रचनाएं विचारधारा का इस्तेमाल ही नहीं करतीं, उनका लगभग पुनर्निर्माण भी करती हैं। बहुत बार स्वयं लेखक के लिए इसे व्यवस्थित वैचारिक रूप में कहना मुश्किल होता है। छायावादी कवियों की अपने काव्य की बाबत टिप्पणियां इसीलिए ज्यादा मायने नहीं रखतीं। नव-वेदांत की बुनियादी भूमिका इसलिए भी एकदम से पकड़ में आने से रह गई है। निराला की 'राम की शक्तिपूजा' के युगीन और संघर्षकारी मायने पर काफ़ी बात हो चुकी है, परंतु यह सशक्त रचना किस तरह नव-वेदांत का पक्ष अपनी पूरी संरचना में गूँथे हुए है, इसे ठीक से रेखांकित नहीं किया गया है। रचना में राम-रावण संग्राम पृष्ठभूमि में है। अतः साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की अनुगूँज को भी वहीं तक सीमित मानना समीचीन होगा। संग्राम अनवरत जारी है और राम की पराजय दीवार पर लिखे शब्दों की भांति चमकती प्रतीत होती है। यह पराजय-बोध एक गहन अंतस्साधना तक ले जाता है। जब तक साधना चलेगी, राम युद्धविरत रहेंगे। यह है तत्कालीन भारत की औपनिवेशिकता विरोधी संघर्ष की वस्तुस्थिति। शक्ति की साधना समाधि के तहत चक्र-दर-चक्र ऊर्ध्वारोहण के रूप में सामने आती है। यह नववेदांत में मौजूद वेदांत और योग की युगपत स्थिति है। वैष्णव परंपरा के राम नववेदांती साधना में निरत हैं। विवेकानंद के गुरु रामकृष्ण परमहंस की काली साधना यहां शक्ति साधना हो गई है। यहां तक कि राम एक जगह रो भी रहे हैं। रामकृष्ण के समाधि में रो उठने की गाथाएं पीछे खड़ी हैं। अंतस्साधना में शक्तिपात अनिवार्य है। यह शक्ति के सिंह का आरोहण है। संपूर्ण आत्मसमर्पण कसौटी है। प्रतीक है आंख को इंदीतर समान देवी पर चढ़ा देना। परिणति है स्वयं शक्तिमय हो जाने की स्थिति; देवी का राम के बदन में लीन होना अर्थात् एक अद्वैत भाव। नव-वेदांत का यह छायावादी रूप यथार्थवादी वैज्ञानिक चेतना को आध्यात्मिक प्रतीक भाषा में अभिव्यक्त करता है। यह आध्यात्मिकता न कोई आरोपण है और न नव-वेदांत की यथार्थवादी संघर्षचेतना का कोई अंतर्विरोध। यह तत्कालीन संघर्ष चेतना की प्रामाणिक और विश्वसनीय अभिव्यक्ति है जो पश्चिमी विज्ञानवाद और उसके भाषा-रूप से आक्रान्त नहीं है। पश्चिमी विज्ञान ने वहां की पूंजीवादी व्यवस्था को महान शोषणकारी अस्त्रों से सज्जित किया है। हम अपने मानवीय सारतत्त्व को बचाने की कोशिश में शोषणकारी अभिव्यक्ति वाले विज्ञान का विकास के लिए इस्तेमाल करना चाहते रहे हैं। अंतश्चेतना के विज्ञान के लिए हमारी अपनी भाषा व्यवस्था निर्मित हुई है। पश्चिम उसे आत्मसात् करना चाहता है तो परामनोविज्ञान से लेकर उत्तर-आधुनिक व साइबर-स्पेस तक जा पहुंचता है। वैज्ञानिक तकनीक पर उनका एकाधिकार पूरा है। हमें वे उच्च तकनीक के विकास में ज्ञानगत-उपनिवेश की तरह इस्तेमाल करते हैं। हम इस सबसे बाहर आना चाहते हैं। छायावादी जद्दोजहद अभी जारी है। हमें निराला के अधूरे कार्य पूरे करने

हैं। इसी की पूर्ववर्ती कड़ी के तौर पर छायावादी नव-वेदांत के 'आधुनिक-यथार्थवादी' सारतत्व को पहचानने की ज़रूरत है। छायावाद अपनी मूलचेतना में रोमांटिक नहीं, आधुनिक और यथार्थवादी है क्योंकि यही इतिहासपुष्ट तर्कसंगत एकमात्र विकल्प हो सकता है। पश्चिमी उच्चता-ग्रंथि की हमसे सदी-सदीभर आगे होने की मिथ की पुनर्परीक्षा ज़रूरी है। उसी के असर में सिखाए-पढ़ाए गए हम अपनी आधुनिक यथार्थवादी चेतना को रोमांटिक मानकर उससे उबरने की कोशिश में लगातार भटकते हैं इस क़दर कि साहित्य की आत्मा हमारी पकड़ से बाहर छूट गई है और हम उसे कभी पश्चिमी आधुनिकतावादी पतनशीलता में और कभी मार्क्सवादी-समाजवादी चेतना के आरोपित लक्ष्य में खोजने की कोशिश करते दिखाई देते हैं।

आचार्य शुक्ल ने छायावाद के तत्त्वतः रोमांटिक न होने की बात को कुछ महसूस ज़रूर किया था। यही वजह थी कि उन्होंने 'शुद्ध रोमांटिक' कवियों में श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, सियाराम शरण गुप्त आदि को गिना था और छायावाद को उससे भिन्न बताया था परंतु इस भिन्नता को वे फेंटेजमेटा, प्रतीकवाद आदि में उलझाकर ठीक से सुलझाने से चूक गए। बाद में छायावाद का प्रयोग लगभग रोमांटिक के समानार्थी के रूप में होने लगा। हालांकि इस प्रयोग में उलझन ज़रूर रही, जिस वजह से छायावाद को पश्चिमी रोमैंटिसिज़्म से 'कुछ अलग' के तौर पर रेखांकित किया जाता रहा। नंददुलारे वाजपेयी इससे अधिक 'मानवीय व सांस्कृतिक' मानते रहे तो नगेंद्र ने इसमें 'सूक्ष्म का विद्रोह' अधिक देखा। नगेंद्र की बात को ही उठा लें। यह वस्तुतः पश्चिमी समझ का ही हिंदी रूपांतर है। यूरोप में रोमैंटिसिज़्म नियोक्लासिकल मानसिकता को अपदस्थ करते हुए आया। नवक्लासिकीयता 'रीजनिंग' के युग के तौर पर रेखांकित की जाती है। उसके उथलेपन पर रोमांटिक मनस् ने प्रश्नचिह्न लगाए और ज्ञान की यात्रा 'गहराई' की दिशा में मुड़ गई। यह यात्रा 'रीजनिंग' के विरोध में नहीं थी और न ही इसे विद्रोही कहा जा सकता था। डा. नगेन्द्र ने छायावाद को इसी पश्चिमी विचार-सरणी के भावानुवाद की तरह पेश कर दिया और 'विद्रोही' तक मान लिया। पंतजी को भी यह बात रास आई पर 'विद्रोह' शब्द पूरी तरह उनके गले से नीचे नहीं उतर पाया लेकिन इसके बावजूद द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता 'स्थूल' और छायावादी अभिव्यक्ति 'सूक्ष्म' मान ली गई। चलिए, हम भी कुछ देर के लिए मान लें। अब समस्या यह है कि 'रोमांटिक' अपने बुनियादी रूप में नवक्लासिकीय रीजनिंग को भीतर की ओर गहराती हुई एक संवेगकारी व्यक्तिनिष्ठ मानसिकता है और यह जो है, उसे द्विवेदी काल की किस बात से संदर्भ में कैसे यथावत् बना लिया गया है? क्या द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मकता 'रीजनिंग' की क्लासिकीय या नवक्लासिकीय अभिव्यक्ति थी? क्लासिकीयता मूलतः 'क्लासिकी (शास्त्रीय) संदर्भों को, पौराणिक मिथकीय आधारों को, एक सुनिश्चित व्यवस्था/रीति में ग्रहण करने से जुड़ी वस्तु है और रोमांटिकता में मूलतः इस शास्त्रीयता और पौराणिक संदर्भवत्ता का लगभग परिहार है। इंग्लैंड के रोमांटिक कवियों वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, कोलरिज को उठा लीजिए। कुबला खान, एंशिएंट मेरिनर आदि दो-तीन रचनाओं के अलावा कहीं ऐसे कोई संदर्भ मिलते ही नहीं और वहां भी पौराणिकता के मायने एकदम व्यक्तिनिष्ठ रूप में गृहीत होते हैं। अब छायावादी काव्य को उठाएं। यहां ऐसी कोई विवशता नहीं है। वह विवश नहीं है, क्योंकि वह क्लासिकीयता को अपदस्थ करने वाली रोमांटिक कविता ही नहीं है। उसका काव्य पौराणिक संदर्भों से भरा पड़ा है। उल्टे वह तो अतीत के पुनरुद्धार में जुटी है और उसका सांस्कृतिक नवजागरण इसी का परिणाम प्रतीत होता है। प्रसाद के छायावादी नाटक और महाकाव्य 'कामायनी', 'निराला के राम', 'गुरु गोबिंद सिंह', 'तुलसीदास' इसी छायावादी साहित्य के कंठहार हैं। अगर यह है हमारा रोमांटिक काव्य तो यह तो क्लासिकल-रोमैंटिसिज़्म हुआ लेकिन क्या ऐसा कुछ संभव है? यह तो परस्पर विरोधी धारणा है। हां, आप सुधी समीक्षक हैं, कह सकते हैं छायावाद 'विरुद्धों' के 'सामंजस्य' का ही

एक नाम है। आप ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि आप 'आधुनिक' को रोमांटिक से अलगाने में कोई दिलचस्पी नहीं रखते हैं। यहां यह स्पष्ट करना विषयांतर नहीं होगा कि कोलरिज का 'फैन्सी एंड इमेजिनेशन' वाला विरोधों का समंजन आई.ए. रिचर्ड्स और टी.एस. इलियट के विरुद्धों के सामंजस्य से मूलतः और तत्त्वतः भिन्न है।

येट्स और इलियट के काव्य में पुनः क्लासिकल उद्धरणों/संदर्भों की ओर मुड़ने की प्रवृत्ति मौजूद है। वे आधुनिक युग की आमद को 'परंपरा के प्रतिभा के ज़रिए पुनर्निर्माण' के रूप में पकड़ते हैं। बीसवीं सदी के आरंभ में ही ये आधुनिक कवि सक्रिय हो जाते हैं। यह आधुनिक काल 1900 से 1930 के दरम्यान है। वैसे इलियट 1944 में 'फोर क्वार्टेट्स' लिखते हैं, परंतु वह आधुनिक काव्य के उतार का काल है। येट्स की 'द सेकंड कमिंग' 'क्लासिकल संदर्भों' के ज़रिए नए युग के नए नायक की तलाश करती है, क्योंकि "केंद्र की पकड़ ढीली पड़ गई है और चीजें दूर छितरा रही हैं।" इलियट का 'वेस्ट लैंड' विश्व-क्लासिकी का आधुनिक कोष-सा प्रतीत होता है। इसका अंत उपनिषद के ब्राह्म के 'द' के उद्घोष के साथ होता है। येट्स और इलियट का काल वही है, जो छायावादियों का है। निराला की 'कुकुरमुत्ता' को हम एक आधुनिक रचना आसानी से मान सकते हैं, परंतु शेष छायावादी काव्य के मामले में 'आधुनिक' और 'रोमांटिक' का घालमेल ही नहीं, रोमांटिक का आधिपत्य स्वीकृत रहता है। छायावादी काल के महत्वपूर्ण कथाकार प्रेमचंद को हम धीरे-धीरे उस घालमेल से बाहर ले आए हैं, लेकिन इंद्रनाथ मदान जैसे समीक्षक उनकी दो कहानियों 'कफ़न' और 'पूस की रात' को ही आधुनिक मानते हैं। नामवर सिंह कहते हैं कि उनकी आरंभिक रचनाओं पर जहां गांधीवाद हावी है, वे रचनाएं इसी वजह से संरचना के तल पर भी कमजोर हो जाती हैं। छायावादी काव्य के संबंध में भी यही द्वंद्व मौजूद है। जहां गांधीवाद है, वहां रोमांटिकता है और जहां सामाजिकता है, वहां (आधुनिक?) प्रगति या विकास है और जहां क्रांतिकारिता है, वहां यथार्थवाद का कोई रूपाकार (ई. चेलिशेव, शैली की तर्ज पर निराला में रोमांटिक यथार्थवाद देखते हैं)। छायावाद को मूलतः रोमांटिक मानते चले जाने के पीछे न सिर्फ यूरोपीय समीक्षा के असर की बात ही है, बल्कि ये भी है कि आज़ादी के बाद भारतीय मेधा अमरीकी और रूसी चिंतन प्रणालियों के उपनिवेशों के तौर पर भी काम करती दिखाई देती है। रोमांटिक, यथार्थवादी और आधुनिकता की धारणाएं वहीं से आई हैं। यूरो-अमरीकी-रूसी बौद्धिक वर्ग में भारतीय लेखन की धुंधली-सी पहचान भर है। उन्होंने हमें पढ़ा ही नहीं है और वे इस पूर्वाग्रह से भी ग्रस्त हैं कि तीसरी दुनिया में कुछ बहुत काम का हो भी नहीं रहा है। अभी हाल में ही लोठार लुत्से के साथ एक भेंटवार्ता 'जनसत्ता' में प्रकाशित हुई। प्रश्नवार्ता के साथ लुत्से ने भी माना कि जर्मनी की रुचि भारत के क्लासिकी काल में अधिक है, क्योंकि बहुत से लोग 'आधुनिक भारत में क्या धरा है' की प्रवृत्ति के शिकार हैं। एजाज़ अहमद की 'इन-थ्योरी' में यह बात सामने आती है कि अब कहीं जाकर कॉमनवेल्थ साहित्य की तरफ अमरीका और यूरोप का ध्यान थोड़ा खिंचा है। एजाज़ अपनी पुस्तक में आगे चलकर भारत के संदर्भ में मार्क्सवाद के दो नए निश्चित (विकसित?) चरणों की बात करते हैं और उन्हें गांधीवादी और नेहरूवादी मार्क्सवाद का नाम देते हैं। साम्राज्यवाद विरोधी चेतना की समाजवाद के विकास की प्रक्रिया में महान देन है और बेशक गांधी-नेहरू के अपने कुछ 'अंतर्विरोध' दिखाई देते हों, उनका योगदान मोटे तौर पर समाजवाद के विकास की दिशा में ही दर्ज होता है। एजाज़ की स्थापनाओं से दिशा ग्रहण कर गांधीवाद के प्रति हमें अपने रवैए को बदलने की ज़रूरत है। कम से कम गांधी को लेकर यह धारणा तो अब विदा हो ही जानी चाहिए कि गांधी अपने वैष्णववाद की वजह से मध्यकालीन संत जैसे लगते हैं। वे निश्चय ही एक आधुनिक युगपुरुष हैं। रोम्यां रोलान ने उनकी जीवनी में गांधी के मार्क्सवाद संबंधी मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि वे आधुनिक पूंजीवादी समाज के संकटों के निराकरण के

लिए अपनी तरह का विकल्प प्रस्तुत कर रहे थे। छायावाद भी अपनी तरह से 'परंपरा के पुनर्निर्माण' के ज़रिए औपनिवेशिकता विरोध का संकल्प लिए आधुनिक भारत की मुक्ति से जुड़े रचनात्मक प्रयास का नाम है। इसके केंद्र में व्यक्ति का अंतः रूपांतरण है, क्योंकि सामाजिक रूपांतरण की संभावनाएं अभी पूरी तरह खुली नहीं और अगर खुली हैं तो हमारे नियंत्रण से बाहर हैं। छायावादी काव्य इसी की दारुण व्यथा से छटपटा रहा है। थोड़ा ध्यान से देखें— 'कामायनी' का समूचा कथ्य इसी छटपटाहट की व्यथा का ही तो पर्याय है।

श्रद्धा हमारी परंपरा है, हमारा आदिम संसार। हम 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्' का उद्घोष कर पुरुषार्थ में लगे हैं। वहां सब कुछ हमारा है, हमारे नियंत्रण में है, कि तभी पता चलता है कि हमारा अपना सृजन (गर्भगत श्रद्धा-मनुपुत्र) हमारे उस एकाधिपत्य को किंचित् भंग कर सकता है। हालांकि यह एक अनजाने-अबोध सांयोगिक रूप में होता है, परंतु मनु इसी वजह से भटक जाता है। परंपरा का सुहाना सपना अचानक लगभग बिना वजह खंडित हो जाता है कि तभी मनु को सहारा मिलता है इड़ा के विज्ञानवादी साम्राज्य का शासक होने के भ्रम में। यह रानी विक्टोरिया का भारत है, मनु को शासक होने का अभी तक भ्रम है, जो उस वक्त टूट जाता है जब वह इड़ा को अपना बनाना चाहता है। इड़ा को हाथ लगाने भर से प्रलय आ जाती है। सब कुछ नियंत्रण से बाहर हो जाता है। (यह 1857 के संग्राम की अनुगूँज लिए है।) पराजित मनु आत्महत्या करने की हद तक जाना चाहता है, परंतु आहत मनु को पुनः श्रद्धा का सहारा मिलता है। अब सिवाय अंतःरूपांतरण के और कोई विकल्प नहीं है। मनुपुत्र पुनः इड़ा के शासन में चला जाता है। मनु और श्रद्धा आत्मरूपांतरण की ओर अग्रसर हो जन-नेतृत्व के नए समीकरण तलाशते हैं। यह है 'कामायनी' का कथ्य, नव-वेदांत की छलनी में छन कर आई परंपरा का आधुनिक चेतना में रूपांतर।

जैसे पानी से होकर गुजरती किरणें परावर्तित होकर अपनी दिशा बदल लेती हैं, परंपरा का रूपांतरण करने में नव-वेदांत की भूमिका कुछ-कुछ वैसी ही है। उसके माध्यम से होकर आई परंपरा अपना मूल रूप खोए बिना अर्थ-स्वरूप-दिशा में जिन किंचित् परिवर्तनों की गवाही देती है, वह अमूमन गुणात्मक होते हैं। मात्रात्मक या सतही नहीं। नव-वेदांत की वजह से परंपरा की अर्थदिशा बदल गई। विज्ञान बौद्धिकता, तर्कपूर्णता, मानवीय स्वातंत्र्य साम्य-बंधुता आदि से आंखें मिलाता नववेदांत नए अर्धसामंतीय अर्धपूंजीवादी समाज के लिए प्रासंगिक व विश्वसनीय होने में लगा था और साथ ही इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए शोषणकारी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष चेतना का परोक्ष या प्रत्यक्ष वाहक भी। वैसे उन्नीसवीं सदी में भारत में जो विचारमंथन चल रहा था, उसके लिए नव-वेदांत शब्द बहुत माकूल नहीं है। वह रूढ़ और स्वीकृत हो गया है। अतः उसी का प्रयोग चलन में है, जबकि बहुत कुछ ऐसा है, जो उसके घेरे में नहीं आता। मसलन स्वामी दयानंद का नववेदिकवाद अथवा अकालियों का धर्मसुधारवाद। हालांकि विज्ञान, नई सामाजिक संरचना की अनुरूपता और संघर्ष चेतना— ये तीनों बातें उनमें भी नुमाया है। 'छायावाद' में भी बहुत कुछ ऐसा है, जो नव-वेदांत की छलनी में से छना दिखाई नहीं देता, परंतु वह सब भी इसी नवचेतना के दायरे की बात ज़रूर है। इस लिहाज से पराविद्या, भक्ति आंदोलन, सूफीवाद, कबीर के दांपत्य सूत्र आदि की परंपरा वहां अपने पुनरुत्थान के रूप में नहीं है, इस 'नवचेतना' के ज़रिए रूपांतरित होने की वजह से वहां है। अभी 'कामायनी' की जो चर्चा की गई, उसके संदर्भ में शैवदर्शन, आनंदवाद आदि के पुनरुत्थान की बात करना वाजिब नहीं। कृति का प्रयोजन इस आनंदवाद की स्थापना करना कतई नहीं, इसके प्रासंगिक रूपांतरण को संप्रेषित करना अवश्य है। यहां सब कुछ बदल रहा है, नए रूप में अभिव्यक्त हो रहा है और बात न परंपरा पृष्ठ होने की है, न परंपरा को पुनः प्रतिष्ठित करने की बल्कि परंपरा के भरपूर समाज-राजनैतिक उपयोग व रूपांतरण की है।

नववेदांत अथवा कहा जाना चाहिए कि उन्नीसवीं-बीसवीं सदी की नवचेतना की रचनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में जो छायावादी साहित्य

हमारे सामने आया, उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अक्सर यह बात कही जाती रही है कि वह रहस्यवाद के समानार्थी के रूप में है। छायावाद का रहस्यवाद-स्वरूपत्व सीधे-सीधे नववेदान्तिक पृष्ठभूमि की ओर इंगित करता है, जिसकी वजह से परंपरा एक विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभव बन कर जीवंत रूप में पुनरुपलब्ध होती है। यहां तक बात तकसंगत है, परंतु आगे चल कर हिंदी समीक्षकगण जब छायावाद के सांचे में उस रहस्यवाद को बिठाने की कोशिश करते हुए उसकी कोटियां बनाने लगते हैं तो बात उलझनी शुरू हो जाती है। छायावाद का एक रोमांटिक स्वरूपार्थ-सांचा उनके पास है और रहस्यवाद को उसके अनुरूप बनाना-बिठाना है। शुक्लजी की समीक्षा देखिए। वे रहस्यवाद के दो भेद करते हैं— भावात्मक और साधनात्मक। हालांकि वे छायावादियों को 'शुद्ध' रोमांटिक नहीं मानते पर रहस्यवाद की छायावाद-परक शुद्धता की विवशता से जाने क्यों घिरे प्रतीत होते हैं? ज़रा छायावादियों के रहस्यवाद को ध्यान से देखें। महादेवी वर्मा इस पथ की इस काल में अनन्य साधिका हैं। उनके लिए भावगत-आतुरता, प्रतीक्षा, पीड़ा—यही सब एक गहरी साधना का रूप ग्रहण कर लेते हैं। यह साधना इतनी गहरी हो जाती है कि लक्ष्य 'प्रिय प्राप्ति' तक का अतिक्रमण कर जाता है। 'वह' मिले न मिले, कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। राह पर चलने की साधना पर्याप्त है। उसमें 'सब' है—संसार भी अध्यात्म भी, लौकिक भी अलौकिक भी, त्याग का दिन भी, परम आसक्ति का तम भी। अगर यह 'भावात्मक' रहस्यवाद है तो (शुक्लजी की समीक्षा भाषा के शास्त्रीय पथ के मुताबिक) यह वस्तुतः भाव-साधनात्मक रहस्यवाद है। 'साधना' के अभाव में रहस्यवाद छायावाद में है ही नहीं। वर्ड्सवर्थ की तर्ज पर एक सूक्ष्म गहरी आध्यात्मिक-अनुभूति मात्र वाले रहस्यवाद को आप यहां कहां से कैसे खोजिएगा? अब विचार करें कि फिर दूसरी कोटि यानी साधनात्मक रहस्यवाद का क्या मतलब है? वह वस्तुतः कर्मकांडीय साधनात्मक रहस्यवाद है— पर वह तो कब का 'गया-बीता' हो चुका। उसे आप भक्ति आंदोलन में भी नहीं दिखा सकते। अब यह तो शुक्लजी की रहस्यवाद संबंधी समस्या है, वह एक 'मूल भ्रम' की तरह परवर्ती हिंदी समीक्षा को दिग्भ्रमित करने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुई है।

अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों ने नदियों में, पेड़ों की छाल में धर्मशास्त्र खोजने की जो बात उठाई थी, वहां अवश्य एक सूक्ष्म अमूर्त आध्यात्मिक अनुभूति के प्रकृति में आभासित होने की बात दिखाई देती है। यह व्यक्तिनिष्ठ भावात्मक रहस्यवाद जैसा कुछ है। रनेसां के बाद विज्ञान के असर में जिस तर्कपूर्ण बौद्धिक अन्वेषण की बात नुमाया हुई, एनलाइटनमेंट में वह सूक्ष्म जगत के अन्वेषण की तरफ मुड़ी। प्रोटेस्टेंट धारा ने पहले ही कैथोलिक रूढ़िबद्धता को काफी कमजोर कर दिया था। अब एक मुक्त उड़ान की तैयारी की जा सकती थी। नितांत अपने बूते पर चेतना के आकाश की यात्रा को निकले यायावर एक रोमांटिक आंदोलन में व्यापक रुचि पैदा करने में सफल हो रहे थे परंतु हमारे यहां युगस्थिति खासी अलग थी। हम साम्राज्यवाद के शिकंजे से निकलने की कसमसाहट में जी रहे थे। सहज विजय के कोई आसार नहीं थे। आध्यात्मिक तल पर एक आंतरिक मुक्ति सुकून दे सकती थी, मगर वह अपर्याप्त थी इसलिए उसके सामने एक अंतर्साधना से होकर गुज़रने की विवशता थी, जो साधक को रूपांतरित कर सके। आवश्यक था कि चेतना की आंतरिक उड़ान सिर्फ पंख खोलने की संभावना के सुख तक ही महदूद न होकर रह जाए बल्कि उसे 'यथार्थ' बना लेने के लिए 'जगत की महान पीड़ा' का आभ्यंतरीकरण भी करे। 'पीड़ा' की स्थूलता की बजाय सूक्ष्मता के आयाम खोले जाएं और फिर वहीं तक टिके न रहकर 'पीड़ा' को 'साधना' बना लिया जाए। गांधी का मौन इसी पीड़ा के आभ्यंतरीकरण से शुरुआत करता हुआ आत्म-रूपांतरण के 'यथार्थ' तक आने का, एक समाज-राजनैतिक क्रांति करने में समर्थ होने का आभास पैदा करता हुआ इसी 'रहस्यवाद' के 'स्वरूपार्थ' स्पष्ट करता

पृष्ठ 33 पर जारी

मुकुटधर पांडेय : एक कृति-व्यक्तित्व

रामनारायण पटेल



संपर्क : 508, सी. एंड डी.

ब्लॉक, पॉकेट-1, शालीमार बाग

दिल्ली-110088, मो. 9968447824

आज हिंदी जगत में छायावाद के सौ वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर अनेक कार्यक्रम हो रहे हैं और इस बहाने छायावाद और छायावादी कवियों का पुनर्मूल्यांकन किया जा रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। मैं छायावाद का सामान्य पाठक हूँ लेकिन एक पाठक के रूप में छायावाद को पढ़ते हुए मुझे लगता है कि हमने आज भी उस काव्य धारा से जुड़े कुछ अनछुए पहलुओं व विषयों पर ठीक-ठीक दृष्टिपात नहीं किया है। आज समय है उन अनछुए पहलुओं पर विचार करने का। इसी उद्देश्य से मैंने यहां (पद्मश्री) पं. मुकुटधर पांडेय के कृति-व्यक्तित्व पर विचार करने का प्रयास किया है। दूसरी बात यह भी कि उनके सान्निध्य में रह कर मैंने जो कुछ भी सुना-सीखा अथवा जाना-समझा उसे आप तक पहुंचा दूँ, क्योंकि इतिहास तो उनके बारे में लगभग मौन है।

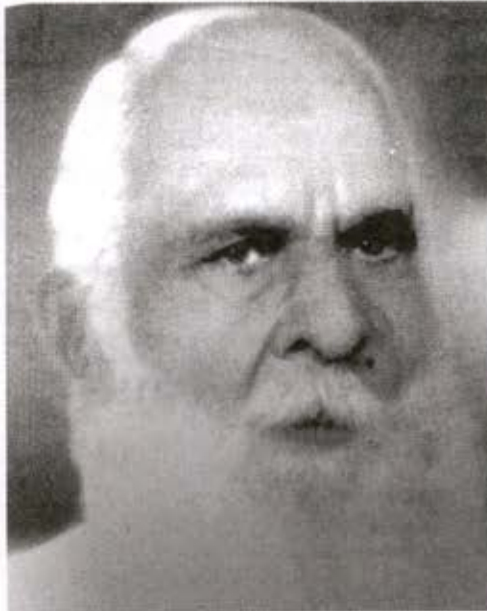
30 सितंबर, 1895 को बालपुर (जांजगीर-चांपा जिला, छत्तीसगढ़) नामक छोटे से गांव में जन्मे मुकुटधरजी आधुनिक हिंदी साहित्य के मुकुट हैं। आचार्य शुक्ल एवं 'प्रसाद' के अनुसार वे छायावाद के प्रवर्तक हैं। मुकुटधरजी का अपने गांव और वातावरण से बहुत गहरा संबंध रहा। बालपुर महानदी के तट पर सारंगढ़-रायगढ़ मार्ग पर स्थित है। अमराई और पलाश वृक्षों से घिरा यह क्षेत्र अत्यंत रमणीय है। महानदी की शीतल जलधारा ('शीतल स्वच्छ नीरले सुंदर, बता कहां से आती है, इस जल्दी में महानदी, तू कहां घूमने जाती है?') और पलाश वृक्षों की ऐंठती टहनियों के ऊपर रक्तम पुष्प-गुच्छों को देख कर उनका बाल मन आनंदित हो उठता था—

किंशुक-कुसुम! देख शाखा पर फूला तुझ
मेरा मन आज यह फूला समाता है।
झूल-झूल जाता जब मानस नयन बीच
विविध विनोदमय बस मोद-चित्र है
छाया बन बीच आज सरस बसंत वही
मैं वही, यह भूमि भी पवित्र है।

मुकुटधरजी को कवि-हृदय मिला था। वे धार्मिक-साहित्यिक वातावरण में पले-बढ़े थे, जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर भी पड़ा। दादा पं. सालिगराम पांडेय और पिता चिंतामणि पांडेय साहित्यिक रुचिसंपन्न व्यक्ति थे। पिता ने गांव में ही एक प्राथमिकशाला का निर्माण करवाया था। घर में एक निजी पुस्तकालय भी था, जिसमें धार्मिक-साहित्यिक ग्रंथों के अतिरिक्त उस समय की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं का अच्छा संकलन भी था। पत्रिकाएं नियमित रूप से

आती थीं। पांडेय बंधुओं की प्राथमिक शिक्षा यहीं गांव में हुई। यहीं गर्मी के दिनों में रात भोजन के पश्चात् खुले आंगन में खाट पर लेटे-लेटे, टिमटिमाते तारों को देखते हुए कभी खगोल, भूगोल और इतिहास की बातें होती थीं तो कभी संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला-उड़िया साहित्य के संदर्भ में संवादात्मक चर्चा। स्वाभाविक रूप से इसका प्रभाव मुकुटधरजी पर पड़ा। मुकुटधरजी छह भाइयों में सबसे छोटे थे। उनके सभी भाई काव्य-कला में निपुण थे किंतु अधिक प्रसिद्धि मिली अग्रज लोचनप्रसाद पांडेय को। लोचन प्रसादजी द्विवेदी-मंडल के प्रमुख रचनाकार थे। पुरातत्व और इतिहास में भी उनकी विशेष रुचि थी। वे भारतेंदु-युग के प्रसिद्ध रचनाकार ठाकुर जगमोहन सिंह (शिवरीनारायण, बिलासपुर) के निकट संपर्क में थे। लोचनप्रसादजी मुकुटधरजी के साहित्य गुरु थे। वे उनके लिए 'सखा-बंधु, माता अरु पिता' थे। दोनों में प्रेम-भाव वैसा ही था जैसा कि मैथिलीशरण और सियारामशरण गुप्त के संबंध में कहा जाता है। पांडेय बंधु आचार्य द्विवेदीजी और गुप्तजी के स्नेह-भाजन तो थे ही, 'छंद प्रभाकर' के रचयिता जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' (बिलासपुर) से भी उनका आत्मीय और पारिवारिक संबंध था। इन्हीं संबंधों और पारिवारिक वातावरण के परिणामस्वरूप मुकुटधरजी का चिंतन-जगत परिष्कृत-परिमार्जित हुआ।

मुकुटधरजी स्वभाव से सरल और मिलनसार व्यक्ति थे। द्विवेदीजी के अतिरिक्त रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, रामदेवी प्रसाद 'पूर्ण', बख्शीजी, स्नेहीजी, नवीनजी तथा शांतिप्रिय द्विवेदीजी जैसे अनेक साहित्य-मनीषियों से उनकी मित्रता थी लेकिन मित्रता की मित्रताई ऐसी कि पत्रों में भी साहित्यिक जुगलबंदी हुआ करती थी। कभी लड़ाई, कभी नाराजगी फिर महीनों पत्र लिखना बंद किंतु आत्मीयता इतनी कि नाराजगी अधिक दिनों तक टिक नहीं पाती थी। किसी विषय पर पुनः चर्चा होती और दोनों पक्ष हिंदी भाषा और साहित्य-संस्कृति के प्रति सजग दिखाई देने लगते थे। अपने समकालीन रचनाकारों की भांति मुकुटधरजी भी खड़ीबोली हिंदी को बढ़ावा दे रहे थे। इस हेतु उन्होंने अपने समय के गतिरोधों व गुटबंदियों को भी तोड़ा। उनके 'गुडविल मिशन' के बारे में डॉ. कांति कुमार जैन ने लिखा है,



मुकुटधर पांडेय

“जब बनारसीदास चतुर्वेदी का ‘उग्र’ ‘विरोधी’ ‘घासलेटी साहित्य’ संबंधी चर्चा जोरों पर थी तब सन् 1928 में हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में भाग लेने के लिए अनेक रचनाकार कलकत्ता में एकत्रित हुए थे। उस अवसर पर कुछ रचनाकार मित्रों ने मुकुटधरजी से अनुरोध किया कि आप चतुर्वेदीजी और उग्रजी से बात कर झगड़ा खत्म करवा दें। चतुर्वेदीजी से बात करके जब वे उग्रजी के पास पहुंचे और चतुर्वेदीजी का नाम लिया तो उग्रजी उबल पड़े लेकिन मुकुटधरजी की सरलता के आगे उनका क्रोध काम न आया।” यह अधिवेशन मुकुटधरजी के लिए कई मायनों में महत्वपूर्ण था। इस अधिवेशन में उन्हें गांधीजी और सुभाषचंद्र बोस के साथ मंच पर बैठने का सौभाग्य मिला था। इस अवसर की चर्चा करते हुए वे बताते थे कि गांधीजी ने अपने भाषण के अंत में जब कहा, “मैं बनिया हूँ, पैसों का महत्व समझता हूँ। हिंदी के प्रचार के लिए मुझे दक्षिणा चाहिए।” इतना कहते ही नोटों और सिक्कों की वर्षा होने लगी। महिलाएं तो सोने-चांदी के आभूषण तक फेंकने लगीं। उनको बटोरने वालों में जमुनालाल बजाज और शिवप्रसाद गुप्त जैसे जाने-माने लोग थे। अपार भीड़ थी, एक अद्भुत अनुभव था। मंच पर मैं भी गांधीजी के साथ बैठा था। मुझे भी एक कविता पढ़ने को कहा गया। कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं-

स्वतंत्रता, शिक्षा कला-कल-कूजिता,
धन्य चैतन्य की यह बंग भू।
रत्न कंचन के सुभग संयोग-सा,
आज हिंदी की बनी है रंग भू।

मुकुटधरजी समाजसेवी और हिंदी प्रेमी थे। साहित्य के क्षेत्र में वे जितने शिखर पर थे उनका रहन-सहन उतना ही साधारण था। ठेठ ग्राम्य-जीवन उन्हें पसंद था। 1905 में अपने गांव बालपुर में प्राइमरी शिक्षा पूर्ण कर वे रायगढ़ आ गए और 1912 में मिडिल स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1915 में प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रवेशिका करने के बाद क्रिश्चियन कॉलेज (इलाहाबाद) चले गए किंतु तीन माह के भीतर ही वहां से लौट आए। कारण सिर्फ इतना था कि उन्हें ‘गवईहां’ जीवन प्रिय था।

साधारण जीवन जीने के बावजूद वे अपने युग के रचनाकारों में सबसे अधिक प्रगतिशील थे। उन्होंने द्विवेदी-युग के भीतर ही काव्य के क्षेत्र में एक नवीन मार्ग का अनुसरण किया। उनकी स्वच्छंद और नवीन काव्य-प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है, “खड़ी बोली की कविता जिस रूप में चल रही थी, उससे संतुष्ट न रहकर द्वितीय उत्थान के समाप्त होने से कुछ पहले ही कई कवि खड़ी बोली काव्य को कल्पना का नया रूप-रंग देने और उसे अधिक अंतर्भावव्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए, जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्टा।” (‘हिंदी साहित्य का इतिहास’। इस नवीन और स्वच्छंद काव्यधारा को बाद में ‘छायावाद’ के नाम से अभिहीत किया गया।

छायावाद आधुनिक हिंदी साहित्य का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। यह भक्ति-आंदोलन के बाद का सबसे सशक्त काव्यांदोलन है। यहां

काव्य और दर्शन का, कला और कल्पना का मणिकांचन योग है। मानव और प्रकृति का यहां जैसा समन्वय है, वह अद्भुत है। प्रारंभ में कुछ लोग इसकी शैली और शिल्प को लेकर आशंकित जरूर हुए और तरह-तरह की बातें की गईं, किंतु शीघ्र ही इसके काव्य-वैभव को साहित्य-जगत् में सम्मान मिला और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा-समझा गया। छायावाद का भावोदय यद्यपि द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में ही हो गया था किंतु इसका नामकरण सन् 1920 में मुकुटधर पांडेय ने किया। वे प्रगतिशील रचनाकार थे। उन्होंने काव्य में उन आत्मगत भावनाओं को स्थान दिया जो द्विवेदी-युग की काव्य-प्रवृत्ति से पर्याप्त भिन्न थी। उनकी आध्यात्मिक भावना रवीन्द्र की आध्यात्मिकता एवं मानवतावादी विचारधारा से प्रभावित थी। उन्होंने न केवल काव्य के माध्यम से नवीन चेतना का परिचय दिया बल्कि छायावाद का नामकरण करते हुए उसे पहली बार व्याख्यायित भी किया। ‘हितकारिणी’ (मार्च 1920) में प्रकाशित उनकी ‘चरण प्रसाद’ नामक कविता इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें पहली बार ‘छायावाद’ शब्द का प्रयोग करते हुए उन्होंने इसके कुछ लक्षणों का उल्लेख किया है-

“भाषा क्या वह छायावाद
है न कहीं उसका अनुवाद।”

इसके तीन माह बाद ‘श्रीशारदा’ (जबलपुर) के सन् 1920 के अलग-अलग अंकों में ‘हिंदी में छायावाद’ नाम से उनके चार महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। यह छायावाद संबंधी पहला और गंभीर लेख है।

इसमें उन्होंने छायावाद को समझाते हुए उसके महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है। उनके अनुसार, “हिंदी में यह बिलकुल नया शब्द है;..... अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग-साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जाएंगे कि यह शब्द ‘Mysticism’ के लिए आया है।” (छायावाद क्या है?) मिस्टिसिज्म क्या है? इसे समझाने के लिए उन्होंने ‘माधुरी’ के अप्रैल 1926 के अंक में एक टिप्पणीनुमा लेख लिखा जिसमें उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा, “मिस्टिसिज्म कोई खिलवाड़ की वस्तु नहीं है- A tendency of religious feeling marked by an effort to attain to direct and immediate communion with God, obscurity of doctrine.” (मिस्टिसिज्म का हिंदी पर्याय)

यह सहज आश्चर्य की बात है कि ‘श्रीशारदा’ में प्रकाशित लेखमाला के एक वर्ष बाद ‘सरस्वती’ के दिसंबर 1921 में उनका एक लेख ‘कविता’ नाम से प्रकाशित

हुआ जिसमें छायावाद की अस्पष्टता, नवीनता, कल्पनाप्रियता और आध्यात्मिकता की चर्चा हुई है। इसमें उन्होंने लिखा है, “वस्तुगत ‘सौंदर्य’ और उसके अंतर्निहित ‘रहस्य’ की प्रेरणाएं ही कविता की जड़ हैं। यहीं कविता से ‘अव्यक्त’ का सर्वप्रथम सम्मिलन होता है।.... इस रहस्यपूर्ण सौंदर्य-दर्शन से हमारे हृदय-सागर में जो भाव-तरंगें उठती हैं वे प्रायः कल्पना-रूपी वायु के वेग से ही ज्ञात होती हैं, क्योंकि यथार्थ की साहाय्य-प्राप्ति इस समय उन्हें असंभव हो उठती है। यही कारण है कि कविता-गत भाव प्रायः अस्पष्टता लिए हुए

मुकुटधर पांडेय का साहित्य

1. ‘प्रार्थना-पंचक’ (गद्य-पद्य रचना)-1909 ई. इंडियन प्रेस, प्रयाग
2. ‘पूजाफूल’ (कविता-संकलन)-1916 ई. ब्रह्मप्रेस, इटावा
3. ‘शैलबाला’ (अनूदित उपन्यास)-1916 ई. हरिदास एंड कंपनी, कलकत्ता
4. ‘लच्छमा’ (अनूदित उपन्यास)-1917 ई. हरिदास एंड कंपनी, कलकत्ता
5. ‘परिश्रम’ (निबंध-संग्रह)-1917 ई. हरिदास एंड कंपनी, कलकत्ता
6. ‘हृदयदान’ (कहानी-संग्रह)-1918 ई. हिंदी गल्पमाला प्रेस, काशी
7. ‘मामा’ (अनूदित उपन्यास)-1918 ई. रिखवदास वाहिनी एंड कंपनी, कलकत्ता
8. ‘स्मृतिपुंज’ (संस्मरण-रेखाचित्र)-1938 ई. तिरुपति प्रकाशन, हापुड़
9. ‘मेघदूत’ (छत्तीसगढ़ी अनुवाद)-1984 ई. छत्तीसगढ़ लेखक संघ, रायगढ़
10. ‘हिंदी में छायावाद’ (पूर्व प्रकाशित निबंध-संग्रह)-1984 ई. तिरुपति प्रकाशन, हापुड़
11. ‘विश्वबोध’ (पूर्व प्रकाशित कविताओं का संग्रह)-1984 ई. श्रीशारदा साहित्य सदन, रायगढ़

होते हैं। इसी अस्पष्टता का दूसरा नाम 'छायावाद' है।"

छायावाद के नामकरण के संबंध में उनका क्या अभिप्राय था, इस संबंध में जान लेना भी यहां आवश्यक प्रतीत होता है। वे कहते हैं, "... नई शैली पर मैंने कुछ आलोचनात्मक लेख बंगला में पढ़े थे।... मैंने इस लक्षण पर (छायावादिता) स्वतंत्र रूप से विचार किया था।... मेरे सामने रवीन्द्र की 'बलाका' आदि कई पुस्तकें थीं। उनके कुछ गीतों में अर्थ का अध्यास था, मानों वे भाव नहीं, भावों की छाया हों।... बस इसी बुनियाद पर मैंने 'छायावाद' नाम रखा।" (हिंदी में छायावाद) उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि जिस समय उन्होंने नई कविता का नाम 'छायावाद' रखा था, उस समय कविता में कोई 'रहस्यवाद' नहीं खोजता था। अन्यत्र उन्होंने 'छायावाद' नाम के संदर्भ में लिखा है, "मैं तो अस्पष्ट और संकेतात्मक अभिव्यक्ति वाली रचना को 'छायावादी' रचना कहता था। उसका आलंबन चाहे लौकिक हो, चाहे अलौकिक।"

हम जानते हैं कि साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद के संबंधों को लेकर पर्याप्त विचार किया गया है और अधिकांश आलोचकों ने इसमें रहस्यवाद की प्रवृत्ति को प्रमुख माना है। मुकुटधरजी के अनुसार छायावाद का मुख्य विषय रहस्यवाद की अनुभूति की अभिव्यंजना है। कवि उसे सीधी-सादी भाषा में नहीं, बल्कि लाक्षणिक पदावली में व्यक्त कर पाता है। अभिव्यंजना-प्रणाली की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं, "छायावाद एक ऐसी मायामय सूक्ष्म वस्तु है कि शब्दों द्वारा उसका ठीक-ठीक वर्णन करना असंभव है। उसका एक मोटा लक्षण यह है कि उसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य बहुत कम रहता है।" ('छायावाद क्या है?') छायावाद को 'मायामय सूक्ष्म वस्तु' कह कर उन्होंने उसके भावगत और भाषागत सूक्ष्मता को ही लक्ष्य किया है। ध्यान देने की बात है कि इसी मूलवृत्ति को बाद में प्रसादजी ने 'उपचार-वक्रता' नाम दिया। सूक्ष्म भाव-लोक अथवा अनुभूति की अंतः प्रेरणा छायावाद का प्रधान लक्षण है। इसी तरह भावगत अस्पष्टता को रेखांकित करते हुए मुकुटधरजी ने लिखा, "यथार्थ में छायावाद भाव-राज्य की वस्तु है। इसमें केवल संकेत से ही काम लिया जाता है।... जिस प्रकार कोई समाधिस्थ योगी समाधि से जागने पर ब्रह्मानंद के सुख का वर्णन वचनों से नहीं कर सकता, उसी प्रकार कवि भी अपने हृदयगत भावों को स्पष्ट रूप से शब्दों में नहीं लिख सकता।" ('छायावाद क्या है?')

स्पष्ट है कि मुकुटधरजी नई काव्यधारा के रूप में छायावाद की प्रवृत्ति को तो रेखांकित कर ही रहे थे, छायावाद विषयक चर्चा को लेकर भी अत्यंत सजग थे।

मुकुटधरजी की रचनागत विशेषता यह है कि उन्होंने प्रत्येक विषय के अंतरतम में प्रविष्ट हो स्वच्छंदता का परिचय दिया। उन्होंने काव्य में नूतन अभिव्यंजना-शैली को प्रारंभ से ही अपनाया। उनकी रचनाओं में प्रकृति के सचेतन रूप के साथ-साथ मानव के लौकिक जीवन का चित्रण हुआ है—

खिल के गुलाब कैसा सौरभ उड़ा रहा है
बागों में खूब सुख से आमोद छा रहा है
चलते हैं हल कहीं पर बांधे कतार सुंदर
गाते हैं गीत कैसे लेते किसान मनहर। ('वर्षाबहार')

इस प्रकार की स्वच्छंद और नवीन भाव-बोध से युक्त रचनाओं में 'जीवन साफल्य' (1912), 'काल की कुटिलता' (1912), 'सिंहोपालम्भ' (1913), 'प्रभो' (1914), 'आंसू' (1916), 'विश्वबोध' (1917), 'उद्गार' (1918), 'कुरी के प्रति' (1920) आदि प्रमुख हैं। इनमें जिज्ञासा, सौंदर्यप्रियता, आध्यात्मिकता एवं कोमल भावानुभूति की प्रवृत्ति विद्यमान है। रहस्यमय संकेतों का चित्र देखिए—

बता मुझे ऐ विहग विदेशी अपने जी की बात,
पिछड़ा था तू कहां आ रहा जो कर इतनी रात।
शून्य गगन में कौन सुनेगा तेरा विपुल विलाप,

बता कौन-सी व्यथा तुझे है, है किसका परिताप?

X X X

वहां कौन नक्षत्र-वृंद करता आलोक प्रदान?
गाती है तटिनी उस धू की बता कौन-सा गान?

(‘कुरी के प्रति’)

यह अन्योक्ति सौंदर्यपूर्ण है। इसमें मानवीय अनुभूति और आत्मा-भिव्यक्ति का सुंदर रूप प्रकट हुआ है। मुकुटधरजी की रचनाओं में जो आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा है, वह वस्तुतः आत्म-प्रसार की आकांक्षा है। वे रवीन्द्र की भांति रूढ़ियों के विरुद्ध परिवर्तन का, प्राचीनता के बदले नवीनता का जयघोष करते हुए विराट का अंकन करते हैं। वे बहिर्मुखी अभिव्यक्ति के बदले अंतर्मुखी चेतना और स्वच्छंदता को महत्व देते हैं। उनकी इन्हीं विशेषताओं के संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने लिखा है, "मुकुटधर पांडेय की रचनाएं नरंतर प्राणियों की गतिविधि का भी राग-रहस्यपूर्ण परिचय देती हुई स्वाभाविक स्वच्छंदता की ओर झुकती मिलेगी।" उनकी 'उद्गार' कविता देखिए—

मेरे जीवन की लघु तरणी
आंखों के पानी में तर जा
मेरे उर का छिपा खड़ा
अहंकार का भाव पुराना
बना आज मुझको दीवाना
तप्त श्वेत बूंदों में ढर जा।

उनकी ऐसी अंतर्भाव-व्यंजक रचनाओं में मानवतावाद के स्वर स्पष्ट हैं। वैसे देखा जाए तो स्वच्छंदतावाद-छायावाद में मानवतावाद की जो लहर चली उसने एक विशाल मनोदृष्टि प्रदान की। यह दृष्टि नई नैतिकता और सांस्कृतिक बोध की ही तलाश थी, जो सीधे सामाजिक जीवन-परिस्थितियों से संबद्ध थी। 'विश्वबोध' में वे कहते हैं—

खोज में हुआ वृथा हैरान
यहां ही था तू हे भगवान!
दीन-हीन के अश्रु-नीर में
पतितों की परिताप-पीर में
सरल स्वभाव कृषक के हल में
श्रम-सीकर से सिंचित धन में
तेरा मिला प्रमाण।

ऐसी रचनाओं में करुणा और सहानुभूति का विशेष स्थान है। श्रमिक और किसान मुकुटधरजी के प्रिय थे। वे उनके लिए सदैव चिंतित रहते थे। उनकी यह चेतना कभी प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से व्यक्त हुआ है तो कभी सीधे और सहज ढंग से। 'आराधना' कविता में करुणा का भाव देखिए—

पर आषाढ़ की प्रखर धूप में / श्रम गंगा में करता स्नान
हल जोतता किसान छेड़ता / है जब अपनी लंबी तान।
सुन, तब उसे वाटिका से निज / करता मैं उर बीच विचार
खेतों में यों आर्तस्वर से / यह किसको है रहा पुकार।

मुकुटधरजी यद्यपि कवि के रूप में विख्यात थे किंतु अपने आलोचना-कर्म के द्वारा भी उन्होंने हिंदी साहित्य में कीर्तिमान स्थापित किए। वे जहां भावात्मक कविता की आवश्यकता को समझ रहे थे, वहीं आलोचकीय दायित्व को भी। उन्होंने नवीनता, नैतिक साहस, काव्य-स्वातंत्र्य और स्वच्छंद-कवि मार्ग पर बल देते हुए कहा, "कविता के लिए एक रीति अथवा नियम आवश्यक है, पर यह नहीं कि वह साहित्य में हिमाचल-सा अचल बना रहे।... कवि को इन नियमों को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।" ('काव्य-स्वातंत्र्य') काव्य

पृष्ठ 45 पर जारी

छायावाद क्या है?

मुकुटधर पांडेय

तत्कालीन हिंदी कविता में आ रहे परिवर्तनों और प्रयोगों को रेखांकित करते हुए इसे 'छायावाद' संबोधन देने का श्रेय मुकुटधर पांडेय के प्रस्तुत लेख को जाता है। चार आलेखों की यह लेखमाला 1920 में 'श्रीशारदा' में प्रकाशित हुई थी। प्रस्तुत है उसकी केंद्रीय कड़ी...

हिंदी में यह एक बिल्कुल नया शब्द है; अतएव पाठक पूछ सकते हैं कि वह क्या है? अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य-साहित्य अथवा बंग-साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जाएंगे कि यह शब्द 'Mysticism' के लिए आया है। पर सिर्फ हिंदी जानने वालों की जिज्ञासा इससे और भी बढ़ जाएगी कि यह कौन-सा हौआ है। वास्तव में है भी यह कुछ ऐसा ही।



मैंने इस विषय में पाश्चात्य-लेखकों की 'Maeterlinck' की दो-एक छोटी-मोटी रचना छोड़कर और कोई किताब नहीं पढ़ी। हां, कवीन्द्र रवीन्द्र के मीष्टिक-साहित्य की कुछ पुस्तकें अवश्य पढ़ी हैं। यद्यपि इस अल्पातिअल्प ज्ञान को लेकर एक नवीन और गहन विषय पर कुछ लिखने बैठना हास्यास्पद है, तथापि हिंदी में उसका नितांत अभाव देखकर, उधर-उधर की कुछ टीका-टिप्पणियों के सहारे, मैं यह दुस्साहस कर रहा हूँ।

'छायावाद' एक ऐसी मायामय सूक्ष्म वस्तु है कि शब्दों द्वारा उसका ठीक-ठीक वर्णन करना असंभव है। उसका एक मोटा लक्षण यह है कि उसमें शब्द और अर्थ का सामंजस्य बहुत कम रहता है। कहीं-कहीं तो इन दोनों का परस्पर कुछ भी संबंध नहीं रहता। लिखा कुछ और ही गया है; पर मतलब उसका कुछ और ही निकलता है किंतु पाठक इस शब्द-अर्थ के विरोध को देख अलंकार-शास्त्र के रूपक अथवा व्यंग का विग्रह न होने दें। इसमें ऐसा कुछ जादू भरा है कि प्रत्येक पाठक अपनी रुचि और समझ के अनुसार इससे भिन्न-भिन्न अर्थ निकाल सकता है और भिन्न-भिन्न रीति से, परंतु समान-भाव से, उसका आनंद अनुभव कर सकता है। कवि का अभिप्राय उसके लिखने से चाहे जो रहा हो, इससे पाठकों का संबंध कुछ भी नहीं। अतएव यदि यह कहा जाए कि ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक-चिन्ह मात्र हुआ करते हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

छायावाद के कवि वस्तुओं को एक असाधारण दृष्टि से देखते हैं। उनकी रचना की संपूर्ण विशेषताएं उनकी इस 'दृष्टि' पर ही अवलम्बित रहती हैं। अतएव 'छायावाद' को ठीक-ठीक समझने के लिए इस 'दृष्टि' का रहस्य जानना आवश्यक है। इसमें स्थैर्य और पूर्णत्व का नितांत अभाव रहता है, जिससे वह क्षणभर में, बिजली की तरह, वस्तु को स्पर्श करती हुई निकल जाती है। पर यह स्पर्श इतना क्षीण होता है कि प्रायः वस्तु को उसका ठीक-ठीक ज्ञान भी नहीं होता। हां, इन अस्थिरता और क्षीणता के साथ-साथ उसमें एक तरह की विचित्र उन्मादकता और अंतरंगता होती है जिसके कारण वस्तु उसके प्रकृत रूप में नहीं, किंतु एक अन्य रूप में, दीख पड़ती है। उसके इस अन्य रूप का संबंध कवि के अंतर्जगत् से रहता है। जिस प्रकार किसी भंगभवानी-भक्त के रंजित लोचनों में कोई वस्तु, उसकी भावना या लहर के अनुसार कुछ और ही सूझने लगती है, वही हाल इन कवियों की दृष्टि का भी समझिए।

यह अंतरंग दृष्टि ही 'छायावाद' की विचित्र प्रकाशन-रीति का मूल है। उसमें किसी दृश्य का ज्यों-का-त्यों चित्र उतारा जाता है; पर शब्द ऐसे वेग वाले प्रयुक्त किए जाते हैं कि भाषा उड़ती हुई जान पड़ती है। पाठक उस चित्र को पकड़ना चाहता है; पर अभी वह उसकी आंखों के सामने हुआ ही था कि न जाने कहां अनंत-आकाश में लीन हो जाता है। फिर प्रयत्न करने पर भी उसका कोई पता नहीं चलता। ऐसी कविताओं में शब्द सजीव होते हैं। वे आदमियों की तरह चलते-फिरते और इशारा करते हैं। बोलते भी हैं; पर भाषा उनकी ऐसी विलक्षण होती है कि मृत्युलोक में उसका कोई व्याकरण ही नहीं। उनमें रूप-रंग और छाया तथा प्रकाश भी पाए जाते हैं। पर चित्र दृश्य वस्तु की आत्मा का ही उतारा जाता है। चित्रकार को कवि की आत्मा ही समझिए। अतएव पाठक आत्मा द्वारा ही उसे देखकर उसका आनंदानुभव कर सकता है। पर यदि वह चाहे कि इस आनंद का उपभोग मैं पूर्ण रूप से करूंगा, तो वह ऐसा कभी नहीं कर सकता। रचना के किसी एक भाव को हृदयंगम कर अथवा किसी एक वाक्य की मधुरता का आस्वादन करके ही उसे संतोष मानना पड़ेगा। संपूर्ण रचना का पूरा-पूरा स्वाद वह कभी नहीं ले सकेगा। साथ ही, उसकी यह आनंदानुभूति स्थाई नहीं हो सकती। वह किसी क्षण भी यह नहीं कह सकता कि काव्य की संपूर्ण सुषमा इस समय मुझे अनुभूत हो रही है, वह बिजली की तरह निरंतर लुकती-छिपती ही रहती है। इसके सिवा ऐसी कविता के मर्म के विषय में पाठक को सदैव सौंदर्य ही रहना पड़ता है। उसे यह शंका बनी ही रहती है कि मैं प्रयत्न करके जिस निर्णय पर उतरा हूँ, कवि का मतलब वही है या यह केवल मेरी कल्पना की तरंग-मात्र है। इसका कारण यह है कि कवि जान-बूझकर अपनी रचना को इसी प्रकार मायामय बनाने की चेष्टा करता है। अपनी प्रणाली के अनुसार भावों को स्पष्ट कर दिखाने में वह सक्षम भी नहीं रहता। उसे अपने लक्ष्य और पाठक के बीच में एक पर्दा डाल देना पड़ता है; पर यह पर्दा इतना बारीक नहीं होता कि पाठक उसके भीतर का दृश्य अनायास देख सके। ऐसा करने के लिए उसे अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। अनेक अंशों में अनुमान और कल्पना पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है। यही कारण है कि जिस कविता के पाठ से एक पाठक आनंद-सागर में डूब जाता है उसी का दूसरे पाठक के चित पर ऐसा करुणार्द्र प्रभाव पड़ता है कि उसके नेत्र निर्झर बन जाते हैं।

कविता की इस अस्पष्टता का प्रधान हेतु है कवि के भावों की अनिर्वचनीयता। जिस प्रकार कोई समाधिस्थ योगी समाधि से जागने पर ब्रह्मानन्द के सुख का वर्णन वचनों से नहीं कर सकता, उसी प्रकार कवि भी अपने हृदगत-भावों को स्पष्ट रूप से शब्दों में नहीं लिख सकता। कविता लिखने के पूर्व उसके हृदय में जो भावावेश प्रकट हुए थे वे शब्द-सीमा के भीतर से नहीं आए थे। वे केवल उसके अनुभूति-राज्य की सामग्री थे। अतएव उन्हें शब्द-बद्ध करने में वह अस्पष्टता को किसी प्रकार दूर नहीं कर सकता।

यथार्थ में छायावाद भाव-राज्य की वस्तु है। उसमें केवल संकेत से ही काम लिया जाता है। भाषा उसमें भाव-प्रकाशन का एक गौण साधन मात्र है। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस तरह की अस्पष्टता लोगों को कैसे रुचिकर हो रही है? किंतु उसके हल करने में 'छायावाद' के कवियों ने अपूर्व निपुणता प्रकट की है। इस निपुणता ने ही लोगों को ऐसा मंत्र-मुग्ध कर रखा है कि वे छायावाद के अस्पष्टता-दोष की कोई परवाह न कर उसके परम-भक्त बन बैठे हैं।

अब देखना है कि यह मोहन-मंत्र वाली निपुणता है क्या? यह है काव्य में चित्रकारी और संगीत का अपूर्व एकीकरण। कवि तारल्य और माधुर्य का ऐसा स्रोत बहाता है कि पाठक उसमें तल्लीन हो जाता है। फिर उसे इस बात का ध्यान तक नहीं रहता कि मैंने क्या पढ़ा और क्या समझा। उसके काव्य में एक तरह की आकुलता, उत्कंठा, उद्दग, शांति और आशंका का एक ऐसा स्वाभाविक समावेश होता है कि पाठक उनके भीतर अपने हृदय के समत्व को या कभी-कभी भावावेश में अपने अस्तित्व को ही खो बैठता है। उपर्युक्त मनोविकारों में एक अनिर्वचनीय व्याकुलता-पूर्ण सौंदर्य का सम्मिश्रण रहता है। यह इस सौंदर्य ही का जादू है जो पाठक को अपने जाल में बेतरह फंसा रखता है। एक बंगाली लेखक के शब्दों में "Mystic कविता यथार्थ में ही संगीत और चित्र-शिल्प की मध्य-भूमि में स्थित रेखा और सुरों के आभास-पूर्ण एक मायापुरी की सृष्टि है।"

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे पाठक समझ गए होंगे कि छायावाद में भाषा गौण होती है और उसके मर्म की उपलब्धि अनिश्चित। अतएव यह कहा जा सकता है कि छायावाद के कवि लाभालाभ पर कुछ ध्यान न देकर केवल भावावेश और आनंद-स्पंदन में ही निरत रहते हैं; पर यह आनंद-स्पंदन उपर्युक्त बंगाली लेखक के कथानुसार, "ताल स्पंदन-पूर्ण रोशन चौकी के अमूर्त अधृत आनंद-स्पंदन से भिन्न कोई वस्तु नहीं। उसे बुद्धि के मार्ग से समझने की चेष्टा करना व्यर्थ है। ऐसा करने से एक तरह की पीड़ा पहुंचेगी।" उसे स्नायु के स्पंदन में से अनुभव करना चाहिए— "तब वह अमृत-सा बोध होगा।"

छायावाद के कवि भाषा के प्रयोग करने में बड़े कुशल होते हैं। भाषा को गौण समझकर वे उसके व्याकरण की भले ही उपेक्षा कर बैठें पर उसका सौंदर्य कभी नष्ट नहीं होने देंगे। वे प्रायः सरल और बोल-चाल की भाषा में ही अपने भाव व्यक्त करते हैं, किंतु भाषा की यह सरलता अनेक स्थलों में अर्थ की जटिलता को छिपाने के लिए ही होती है। दूसरी बात यह है कि वे अपनी कविता के लिए विषय-वस्तु बड़ी दूर-दूर से ढूँढ कर लाते हैं। उनकी कविता देवी की आंखें सदैव ऊपर की ही ओर उठी रहती है। मर्त्य-लोक से उसका बहुत कम संबंध रहता है। वह बुद्धि और ज्ञान की सामर्थ्य-सीमा का अतिक्रमण करके मन-प्राण के अतीत-लोक में ही विचरण करती रहती है क्योंकि यहां उसे अपनी रुचि तथा इच्छा-पूर्ति का यथेष्ट अवसर मिला करता है।

यहीं छायावादिता से आत्मिकता तथा धर्म-भावुकता का मेल होता है। यथार्थ में उसके जीवन के ये दो मुख्य अवलंब हैं। अतएव छायावाद के कवि इन दोनों क्षेत्रों की सीमा से बहुत कम बाहर निकल सकते हैं। वे प्रायः 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' तथा 'वृहच्च तद्व्यमचिंत्यरूपम्' के गूढ़ातिगूढ़ रहस्य में ही मग्न रहते हैं। इन्हीं दोनों व्यापक विषयों को लेकर ही 'छायावादिता' ने विश्व-साहित्य के दरबार में निर्बाध प्रवेश किया है।

अभी कहा गया है कि छायावादिता में विषय-वस्तुएं दूर-दूर से लानी पड़ती हैं पर यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि उनकी भित्ति हमारे दैनिक-जीवन की वे क्षुद्र-क्षुद्र घटनाएं अथवा वस्तुएं ही होती हैं जिनसे कि हमारा चिर-परिचय रहता है। स्वभाव से ही प्रिय घटनाएं कवि के हाथों में पड़कर अपरूप-सौंदर्य धारण करती हैं और हमें एक तरल-मादक पिला कर उन्मत्त-सा बना देती हैं।

सूर्य, चंद्र आदि नक्षत्र-समूह, वसंतानिल, शरदाकाश, ज्योत्स्ना-रात्रि, संध्या और प्रभात की अरुणिमा, सरिता का कलरव, मेघों का गर्जन

तथा पुष्पित कानन आदि प्राकृतिक दृश्य और घटनाएं 'छायावाद' की प्रिय सामग्री हैं। वे सांकेतिक रूप से अदृश्य तथा अव्यक्त के प्रकाशन में साहाय्य पहुंचाती हैं।

छायावादियों की राय में कविता कैसी होनी चाहिए सो सुन लीजिए—

"Poetry is to be something vague, intangible, evanescent, a winged soul in flight toward other skies and other lives."

इन लोगों की राय में कविता में कुछ-न-कुछ अस्पष्टता जरूर रहनी चाहिए। वे कविता का नामकरण भी नहीं चाहते।

"कविता में हमेशा दृष्टिकूटक बातें रहनी चाहिए। किसी वस्तु का नाम दे देने से कविता का तीन-चौथाई मजा निकल जाता है। वह तो उसी समय मालूम होता है जब उसका रहस्य धीरे-धीरे मालूम होता है और अंत में मालूम होता है कि कवि का सुख-स्वप्न यह था।" अतएव 'छायावादिता' को 'नाम-गोत्र से हीन' ही समझिए। हां, उसकी अस्पष्टता का एक प्रमाण लीजिए। कवीन्द्र रवीन्द्र का प्यारा शिशु अपनी मां से पूछता है—

"तुम कहती हो कि पिता अनेकों पुस्तकें लिखते हैं पर वे लिखते क्या हैं, सो तो मैं बिलकुल नहीं समझता। वे तुम्हें संध्या समय बहुत कुछ सुनाते रहे पर यह तो कहो, क्या तुम सचमुच सब कुछ समझ गई?"

इन अवतरणों से पाठकों को 'छायावाद' की प्रकृति का बहुत कुछ ज्ञान हुआ होगा। आप कहेंगे—वाह, क्या विचित्र इंद्रजाल है। हम कहते हैं कि जितना अधिक उसके भीतर प्रवेश कीजिए वह उतना ही अधिक मायामय जान पड़ेगा। एक अंग्रेजी लेखक ने उसे जो एक 'मनोरंजक व्याधि' (Interesting disease) कहा है सो बहुत ही ठीक है। व्याधि भी यदि कहीं मनोरंजक हो पाई है, तो यहीं।

छायावाद के पाठक को बीच-बीच में चौंक उठना पड़ता है। उसे लिखते समय स्वयं कवि की भी वही दशा रहती है। आप कहेंगे इस पचड़े में पड़कर चित्त की स्वस्थता खोने से क्या लाभ? पर इस पचड़े का स्वाद एक बार चखिए, फिर शायद आप उसे कठिनता से भूलेंगे। उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर चाहे जो हो, हम यहां सिर्फ इतना ही बताते हैं कि 'छायावाद' के प्रतिनिधि कवि अपनी कविता की उपयोगिता के विषय में क्या राय रखते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपने 'Crescent Moon' नामक पुस्तक में 'मेरा गीत' में लिखा है, "वत्स, यह मेरा गीत प्रेम-पूर्ण भुजाओं की तरह अपने सुर और लय के जाल से तुम्हें बेधित करेगा।"

"यह मेरा गीत स्नेह-स्निग्ध चुंबन के समान तुम्हारे कपोलों का स्पर्श करेगा।"

"जब तुम अकेले रहोगे, तब वह तुम्हारे पास बैठकर दुख-सुख की बातें करेगा और जब भीड़-भड़क में रहोगे, तब वह तुम्हें उसके संघर्ष से बचा रखने में चहारदीवारी का काम देगा।"

"यह मेरा गीत तुम्हारे स्वप्नों को पंख प्रदान करेगा और तुम्हारे हृदय को अज्ञान के किनारे लेकर उतार देगा।"

"जब तुम्हारे मार्ग पर रात्रि का घोर अंधकार छा जाएगा तब यह तुम्हें रास्ता बतलाने में विश्वस्थ तारे का काम देगा।"

"यह मेरा गीत तुम्हारी आंखों की पुतलियों पर जा बैठेगा और तुम्हें ऐसी दिव्य-दृष्टि प्रदान करेगा कि तुम पदार्थों के अंतःप्रदेश में प्रवेश कर सकोगे।"

"और जब मेरी वाणी मृत्यु-लीन होकर मौन हो जाएगी, तब यह मेरा गीत ही तुम्हारे जागृत हृदय से वार्तालाप करेगा।"

उन्होंने अपने गीतों के विषय में जो कुछ कहा है, वही यहां संपूर्ण 'छायावाद' के लिए कहा जा सकता है। □

उस दिन जब जीवन के पथ में

प्रयाग शुक्ल



संपर्क : एच-416, पार्श्वनाथ प्रेस्टिज,
सेक्टर-93ए, नोएडा-201304
मो 9810973590

कोलकाता के दिनों के, 1957-58 के अपने वे पैर मुझे याद है, जो समय मिलते ही 'प्रतीक', 'कहानी', 'कल्पना', 'वसुधा', 'कृति', 'युगचेतना' आदि की पत्रिकाओं के नए अंकों को देखने-पाने के लिए, पुस्तकालयों और बुक-स्टॉलों की ओर बढ़ने लगते थे। व्यग्र हो उठते थे तब मैं 17-18 साल का था और 'नया' साहित्य अपनी ओर लगातार खींचने लगा था। हम छायावाद से तो तब उतना नहीं, जितना कि छायावाद के बड़े कवियों और उनकी रचनाओं को भी कुछ तो जानने ही लगे थे— और उनकी ओर आकर्षित भी कम नहीं हुए थे: निराला की 'तुम और मैं', पंत की 'चांदनी रात में नौका विहार' या 'कहां-कहां है बाल विहंगिनी..', महादेवी की 'जाने किस जीवन की सुधि ले लहराती आती मधु बयार..', और 'कामायनी' की भी आरंभिक पंक्तियां 'हिमगिरि के अंतरंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छांव' जैसी पंक्तियां आंखों के सामने आ चुकी थीं या कानों में पड़ चुकी थीं। पर, आज सोचकर देखता हूं कि नहीं, तब छायावाद के कवियों की कृतियों में कहीं ढूँढ़ रहा था, मैं ढूँढ़ने लगा था, 'तार सप्तक' को, 'दूसरा सप्तक' को, 'प्रतीक' जैसी पत्रिका को और अन्य पत्रिकाओं को, जिनका उल्लेख ऊपर कर चुका हूं। कारण, सहज-स्वाभाविक था, नए की भाषा और उसके व्यक्त चीजें ज्यादा अपनी लगती थीं, जो कुछ मैं तब अनुभव कर रहा था। उसे उस भाषा में न कह पाऊंगा, जो छायावाद के कवियों की थी, यह बात मन में ठीक ही बैठ गई थी। फिर यह भी तो था कि जिन पत्रिकाओं का उल्लेख कर चुका हूं, उनमें छायावाद के कवियों की चीजें तो प्रायः नहीं हो सकती थीं, उन पर लेख आदि भी कब से रहा करते थे। यह भी कह सकते हैं कि छायावाद उन 'नए साहित्य के सामने से विदा' ले चुका था या 'विदा' ले रहा था। जाहिर है कि प्रसाद को छोड़कर, पंत, महादेवी, निराला तब जीवित थे, जिनको कुछ ही वर्षों बाद निकट से देखने का, एकाध बार उनके साथ बैठने का भी मुझे सुअवसर मिला, भले बतियाने का उतना नहीं। आगे चलकर यह पहचाना कि जब 'अज्ञेय', शमशेर, मुक्तिबोध ने लिखना शुरू किया नहीं था तो 'छायावाद' अपने चरम पर था, और उससे तब ये युवा कवि प्रभावित हुए थे— अज्ञेय, मुक्तिबोध की आरंभिक रचनाएं उसी की तो सूचना देती हैं!

और हम 'प्रभावित' हुए 'अज्ञेय', मुक्तिबोध और नए साहित्य के प्रणेताओं से, उस दौर की 'आधुनिकता' या आधुनिक-बोध से, एक नई भाषा से, जो नए इलाकों की ओर जा रही थी, नई लय से। नए का एक आंदोलन भी था, 'नई कविता', 'नई कहानी' के रूप में जब हमने लिखना-पढ़ना शुरू किया था...

पर, तब (भी) छायावाद कहीं चला नहीं गया था, वह हमसे कुछ 'ओझल' भी हुआ था। वह चला जा भी नहीं सकता। और हम भी अनंतर उसकी ओर बार-बार लौटते हैं, लौटते रहेंगे... इसके कारणों की बात कुछ बाद में करूंगा।

फिलहाल तो यही कि नए का जमाना था तब और चारों ओर उसी की गूंज थी। मैंने पाया (तब) कि मैं 1957-58 के आते-आते 'कल्पना', 'वसुधा', 'कहानी' आदि में लिखने लगा हूं और 23 वर्ष

का था, जब सौभाग्य से पहुंचा 'कल्पना' जैसी पत्रिका में, जो ठीक ही, 'नए' का, 'आधुनिक' का पर्याय बनी रही, और जहां से निराला की भी एक कविता लौटाई गई थी। उसमें 'अज्ञेय', मुक्तिबोध, शमशेर, विजयदेव नारायण साही, श्रीकांत वर्मा, निर्मल वर्मा, रामकुमार सभी ने तो लिखा। अशोक वाजपेयी और हमारी पीढ़ी के अन्य रचनाकारों ने भी वहां दिनकर की 'उर्वशी' को लेकर, कई अन्य प्रसंगों को भी लेकर बहसें हुईं, नए युग की, तभी सर्जना स्थापित हुई।

पचास-साठ के दशक में भी छायावाद से परिचित तो था, पर, उसकी ओर एक बार फिर पूरी एकाग्रता से लौटा, अस्सी के आरंभिक दशकों में। हमारे मित्र रमेशचंद्र शाह की पुस्तक आई 'छायावाद की प्रासंगिकता।' तब 'दिनमान' में था। उसकी रिव्यू की और पाया कि हम कुछ 'भूल' रहे थे। छायावाद को नए सिरे से पढ़ना होगा, पाना होगा। बीच-बीच में छायावाद को लेकर कुछ विशेष प्रसंगों को भी याद करता रहा मसलन फणीश्वरनाथ रेणु के सुमित्रानंदन पंत प्रेम की ओर अपनी तरफ से पहचाना कि बिना पंत की भाषा के 'रेणु' भी उस तरह तो संभव न होते जैसे कि हुए। ('रेणु' का प्रकृति-प्रेम भी क्या पंत का कुछ कम ऋणी है!) बहरहाल, छायावाद में वे बहुत सारी चीजें दिखने लगीं, जो पहले नहीं दिखी थीं। और जब 'अज्ञेय' की किताब 'स्मृति के रंग' आई और उसमें 'निराला', पंत के स्मृति-लेख पढ़े तो वे बहुत सारी चीजें भी नोट की, जो 'छायावाद' का आकलन करने वाले समालोचकों से भी छूट गई थी। फिर सुमित्रानंदन पंत पर मुक्तिबोध का लेख भी पढ़ा, और पाया कि छायावाद सचमुच कहीं चला नहीं गया था, वह तो मौजूद था हमेशा से ही, उनके भीतर तो खास तौर पर, उन 'अज्ञेय' शमशेर, मुक्तिबोध के भीतर तो खास तौर से, जिनकी चीजों से हम छायावाद की बनिस्वत अधिक प्रभावित हुए थे, अपने युवा दिनों में!

नहीं, छायावाद कहीं चला नहीं गया था। वह हमारे भीतर भी था। मैंने भी पंतजी पर एक लेख लिखा (जो मेरी पुस्तक 'अर्ध विराम' में संकलित है)। 1980-90 में मैं जब चालीस-पचास का हुआ तो पाया कि यात्रा करते हुए, विशेष कर हिमाचल प्रदेश की कुछ यात्राएं करते हुए या वहां समय-समय पर प्रवास करते हुए। जैसा प्रवास सोलन का मेरा कई बार रहा। मैं शाम को पंत की कविता पंक्तियों को अपने भीतर गुंजते हुए, प्रतिध्वनित होते हुए देख-सुन रहा हूं... "सो गया निखिल वन का मर्मर ज्यों वीणा के तारों में स्वर"। और पिछले कुछ वर्षों से हाल यह है कि प्रसाद के गीत (उनके तारकों वाले गीत, विशेष रूप से) पढ़ता हूं, कंठस्थ कर रहा हूं..।

सुधा सीकर से नहला दो
लहरें डूब रही हों रस में
रह न जाए कुछ अपने बस में
रूप राशि उस व्यथित हृदय सागर को नहला दो!
अंधकार उजला हो जाए
हंसी हंसलता मंडराए
मधुरा का आगमन कलरवों के मिस कहला दो

सौंदर्य, प्रेम, प्रकृति, प्रेम की रहस्यात्मकता, स्त्री और सृष्टि की मूलभूत चिन्ताएं और जीवन मंत्र को व्यक्त करने की एक व्यग्र छटपटाहट छायावाद में रही है। 'छायावाद' के कवियों के लिए जीवन-यथार्थ से कोई पलायन और सामाजिक चिन्ताओं से 'छुटकारा' पाने का कोई उपक्रम नहीं रहा है- जैसा कि कई बार मान लिया जाता है। अगर ऐसा होता तो 'निराला', महादेवी, प्रसाद का वह गद्य, वह कथा-संसार, वह सामाजिक आकलन, कभी संभव ही न होता, जो संभव हुआ था। इस संदर्भ में उनकी कृतियों के नाम गिनाना आवश्यक नहीं है। हिंदी का सुधी पाठक संसार उनसे परिचित है। और पंत के यहां भी-कविता में भी-ऐसे बहुतेरे प्रसंग हैं जो सामाजिक 'यथार्थ' का पता भी देते हैं, और उनकी मानवीय चिन्ताओं और संवेदनाओं का भी। हम सबकी कविता का एक बड़ा हिस्सा अगर, किसी परमसत्ता से अपनी रहस्यानुभूति के तार जोड़ता है या यथार्थ के सीधे प्रतिबिंबन के बजाय 'छाया प्रतिबिंबन' को प्रायः एक वरीयता देता है तो इतने भर से, वह जीवन-यथार्थ से दूर नहीं हो जाता।

बहरहाल, इसमें दो राय नहीं कि छायावाद का एक मुख्य आधार प्रकृति रही है और उसके उपादान छायावाद के कवियों में कभी सीधे, कभी कई बिंबों की निर्मिति का साधन बनकर उभरे हैं।

आधुनिक काल में, 'नए' साहित्य वाले काल में, प्रकृति उस तरह से लेखन के, साहित्य के, केंद्र में नहीं रह गई थी।, जैसी कि छायावाद के काल में वह थी- वो, 'प्रकृति' से यह दूरी भी कहीं छायावाद से 'दूरी' का कारण बन गई। पर, नहीं यह 'दूरी' कहीं एक कल्पित दूरी भी थी, नहीं तो अज्ञेय की 'असाध्य वीणा', मुक्तिबोध की भी गद्य-पद्य रचनाएं, शमशेर, त्रिलोचन, कुंवरनारायण और विनोद कुमार शुक्ल का, कमलेश का, अष्टभुजा शुक्ल का, काव्य-संसार। अरुण कमल का, ध्रुव शुक्ल का, उदयन वाजपेयी का, गीत चतुर्वेदी का, महेश वर्मा का प्रकृति से, उसके उपादानों से दूर कहां हैं। छायावाद के बाद के कवियों का एक प्रकृति-पाठ भी बहुत जरूरी है। और छायावाद से उनके संबंध, अंतरसंबंध का, उससे विरोधाभासी संबंध का भी, एक पाठ जरूरी है।

भला इसमें क्या शक कि किसी भी साहित्य की, भाषा की, वे धाराएं जो उसकी धरोहर मानी जाती हैं, वे अनंतर अंतरधाराएं बनकर भी प्रवाहित रहती हैं। हिंदी में लिखने वाला कवि, किसी भी काल का, फिर वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, इन अंतरधाराओं से 'अछूता' रह ही नहीं सकता है। हिंदी के भक्तिकाल से, छायावादी काल से, उसके अज्ञेय-मुक्तिबोध वाले काल से, उनकी धाराओं से, पीढ़ियां किसी न किसी रूप में जुड़ेंगी ही- भले ही इसका कोई सचेत भान उन्हें प्रत्यक्षतः न हो। तो छायावाद की ध्वनियां, अंतरध्वनियां, प्रतिध्वनियां सब, भाषा में बसी हुई हैं, और उस 'भाषा' को अपने भीतर जगाते हुए, उस भाषा के संगीत को अपने भीतर जगाते हुए, वे कुछ तो मूर्त हो ही उठती हैं। ऊपर उल्लिखित प्रसाद के गीत की पंक्तियों के ये शब्द 'रूप राशि', 'मधुरा', 'आगमन' बहुत कुछ कहते हैं।

'मधुरा का आगमन कलरवों के मिस कहला दो।'

छायावाद, सचमुच प्रकृति की उपस्थिति, स्त्री की उपस्थिति की 'रूप राशि' के आगमन की सूचना 'कलरवों' के माध्यम से कुछ इस तरह देता है कि हम कुछ पुलकित हो उठते हैं।

महादेवी लिखती हैं-

पुलकती आ वसंत रजनी..
मुस्कान अभिराम बिछा के
चितवन से अपनी।

चित्रकार स्वामीनाथन को ये पंक्तियां बहुत प्रिय थीं। वसंत हो या कोई अन्य ऋतु, स्वामी 'हम सब उन्हें इसी संबोधन से तो पुकारते थे। सांध्य बेला में इन्हें सुनाए बिना नहीं रहते थे : आगे-पीछे थे इनकी अन्य पंक्तियां भी रहती ही थीं।

'छायावाद' का बिंबों से, प्रकृति बिंबों से बड़ा गहरा नाता रहा है।

मुझे यही नाता बहुत आकर्षित करता रहा है और प्रसाद की जिस पंक्ति पर इस लेख का शीर्षक संभव हुआ है, उसी का एक बार और सहारा लेकर कहूं, दुहराते हुए कहूं, तो जन-जन जीवन पथ पर छायावाद के कवि मिले हैं, उनकी कविताएं मिली हैं, वे प्रकृति-प्रेम बढ़ाने वाली पंक्तियों की तरफ ही मिली हैं। छायावाद को खड़ी बोली में अपने भीतर ब्रजभाषा जैसी 'मधुरता' का वास कराना जरूरी लगा था इसलिए उसकी निर्मिति में कुछ 'निर्मित' करने का भाव तो है, चाहें तो कह लें कि उसमें कहीं-कहीं एक सहज प्रवाह का, एक नैसर्गिकपन का अभाव भी है, पर, वह ऐसी भाषा जरूर है, जिससे हमारी 'प्रीति' थोड़े उद्यम, थोड़े प्रयत्न के साथ संभव हो सकती है- संभव होती रहेगी।

आज की हिंदी कविता न तो उतनी संस्कृतनिष्ठ रह गई है, न ही उसका जनपदीय भाषाओं के साथ वैसा संबंध रह गया है, जैसा कि छायावाद का किसी न किसी रूप में अवधी, ब्रज, वसवाड़ी आदि के साथ था। शब्दों में यह संबंध भले प्रकट न होता रहा हो, पर अपने संबोधन के ढंग में, जनपदीय भाषाओं के साथ, कुछ का ही सही, एक संबंध है। 'लाए कौन संदेश नए धन' (महादेवी), 'आंखों से अलख जगाने को/यह आज भैरवी आई है' (प्रसाद), 'लो, छन छन, छन छन/छन छन, छन छन/नाच गुजरिया हरती मन।' (पंत) और निराला के वर्षा गीतों की याद इस संदर्भ में सहज ही हो आती है।

परमसत्ता से एक रहस्यमय, गोपन, परिभाषित-अपरिभाषित संबंध और प्रकृति की लीलाभूमि से उपादानों को चुन-चुन कर कविता में विन्यस्त करने की एक धारा छायावाद काल में चोतरफा प्रवाहित थी। सबसे अधिक यहा धारा मिलती है महादेवी में, जहां रवींद्रनाथ ठाकुर की रचनाओं की तरफ ही प्रेम और पूजा में कोई अंतर नहीं रह जाता। रवींद्र के प्रेम-गीत, पूजा गीत भी लग सकते हैं, और पूजा गीत, प्रेम गीत। यह गौर करने वाली बात है कि रवींद्रनाथ के यहां एकाध जगह, 'भगवान' शब्द के इस्तेमाल को छोड़कर 'परमसत्ता', बस एक व्यक्ति का रूप धारण किए हुए है: सुंदर तुमि ऐसेकिले आज प्राते, अरुण वरण पारिजात नित्ये हाथे'- जैसी रवींद्र पंक्तियों की याद हो आती है। और महादेवी के यहां भी न जाने कितनी ऐसी पंक्तियां हैं, जो एक 'अनाम' और 'अज्ञात' को प्रेषित हैं।

एक 'पुरुष'- 'प्रकृति', और एक 'प्रकृति-पुरुष' खेल निरंतर जारी है। पर, जैसा कि हम पहले भी कह आए हैं, 'छायावाद' में, उस की कविता में, एक विशेष धारा सौंदर्य-सृजन की भी है- इस धारा में एक कोमलता-मधुरता भी है, और वह सांगीतिक भाव से प्रवाहित होती है। इस धारा की एक अंतरधारा हम अनंतर नरेश मेहता की कविता में देखते हैं। और अपेक्षाकृत युवा या अगली पीढ़ियों की कविताओं में, ठीक 'छायावादी' प्रभाव से तो नहीं, पर, प्रकृति की 'उपस्थिति' से, काव्य में कुछ मानवीय मर्मों की उगाही का एक 'उद्यम' हम पाते हैं। इस सिलसिले में सविता सिंह, संगीता गुंदेचा, पारुल पुखराज, लवली गोस्वामी की कविताओं की याद सहज ही हो आती है। और बिना स्त्री-पुरुष कवियों में कोई 'नेक' किए हुए, यह तो कहा ही जा सकता है कि एक विशेष प्रकार के सौंदर्य को, प्रकृति-प्रेम की, जो उत्कृष्टता, सारग्राही शब्दों-बिंबों से इनके यहां मिलती है, वह अन्यत्र कुछ दुर्लभ ही है।

नहीं, छायावाद कहीं चला नहीं गया है।

होना शायद यह भी चाहिए कि किसी काल या मद की कविता का प्रभाव 'कहां है या नहीं?' की चिन्ता किए बगैर हम 'आज की कविता' को, आज के परिदृश्य को, एक बार छायावाद के बरक्स या समक्ष रखकर देखें वादी-संवादी भाव से, इससे स्वयं काव्य आस्वाद की परिधि का एक विस्तार तो होगा ही हम कई ऐसी चीजें भी नोट कर सकेंगे, जो अन्यथा ध्यान में नहीं आतीं। यह लेख लिखते हुए, किसी आलोचनात्मक या अकादेमिक स्तर पर नहीं, निरा भावात्मक या कलात्मक स्तर पर मैं छायावाद और आज के बीच की कई टूटी-बिखरी-जुड़ती-बिछुड़ती कड़ियों को देख पा रहा हूं और इस प्रक्रिया का एक अपना (काव्य) आस्वाद तो है ही! □

छायावाद और स्त्री-विमर्श

यशस्विनी पांडेय



संपर्क : 221/4, एयरफोर्स
स्टेशन, दार्जिलिंग, बडोदरा-340022
(गुजरात) मो. 8306396839

छायावाद कोई वाद, विशेष कालखंड, काव्यधारा ही नहीं बल्कि एक व्यापक जीवन दृष्टि है जिसकी अभिव्यक्ति कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि विधाओं में हुई है पर 'छायावाद' शब्द कविताओं के लिए आया और वही प्रचलित हो गया। 'छायावाद' आधुनिक हिंदी साहित्य का एक ऐसा महत्वपूर्ण पड़ाव और बदलाव है, जहां काव्य में दर्शन, प्रेम, रोमांटिसिज्म, आत्मानुभूति दूसरी तरफ गद्य में नारी चेतना, तमाम समसामयिक सामाजिक समस्याएं, आलोचना के नए प्रतिमान, प्रकृति का मनोहारी रूप, सृष्टि की रहस्यात्मकता, प्रेम की उदात्तता और कई तरह के विमर्शों का जन्म हुआ। छायावाद पर विमर्श ही नहीं गंभीर विचार-विमर्श ज़रूरी है। इस विमर्श को एकांगी नहीं होना चाहिए न ही किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से ग्रसित। हम ऐसे समय में पहुंच चुके हैं जहां यथार्थ, आधुनिकता, परिवर्तन, नित नए मानकों और विभिन्न प्रकार के धारणाओं का प्रसार है। जिस तरह से सरलता, सहजता, दोटकपन, बेलौस, बेबाकीपन के नए प्रतिमान गढ़े जा रहे हैं उनके कारण 'छायावाद' बेमेल और लगभग अप्रासंगिक मालूम पड़ता है। पर यह अप्रासंगिकता ही आज उसे प्रासंगिक बनाती है। जैसे हिंदी साहित्य का इतिहास, भक्तिकाल, भाषा का विकास कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकता वैसे ही छायावाद भी अप्रासंगिक नहीं हो सकता। छायावाद युग समाज के जागरण का काल रहा है। छायावाद की तमाम प्रवृत्तियों का विरोध हुआ जिसमें प्रमुख उनका वैयक्तिक होना भी था। छायावाद युग में कवियों ने जो 'मैं' शैली अपनाई वो आज तक अपनाई जाती है और अपनाई जाती रहेगी क्योंकि व्यष्टि की अभिव्यक्ति के बिना समष्टि की अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं हो सकती। कवि की अपनी अनुभूतियां उसके लिए हमेशा महत्वपूर्ण रही हैं इसके लिए छायावादी कवियों को दोषी ठहराना ठीक नहीं। व्यक्तिवाद का आरोप देखा जाए तो हर कवि और हर वाद पर लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से छायावाद की आलोचना ठीक नहीं। हां, ये ज़रूर है कि ये एकांगी दृष्टिकोण है।

छायावाद को साहित्यिक क्रांति की तरह लेना चाहिए। कोई भी नई क्रांति होती है तो उसका विरोध होता ही है चाहे वो अच्छी हो या बुरी। बिना क्रांति, विरोध, विद्रोह और नयापन के बदलाव नहीं आता। छायावाद ने पुरानी काव्य-शैली, आदर्श और नैतिकता का विरोध किया। बाद में नए बदलाव के लिए छायावाद का विरोध हुआ। किसी भी साहित्यिक आंदोलन या वाद का सूत्रपात या अंत एक निश्चित योजना को दृष्टि में रखकर नहीं होता। जिसे हिंदी में हम आधुनिक आलोचना कहते हैं उसकी शुरुआत भी छायावाद से ही हुई। छायावाद इस अर्थ में भी उल्लेखनीय है कि यह धार्मिक भेदभाव, कट्टरवाद और पाखंड के विरोध में था। ये अलग बात है कि यह विरोध सुव्यवस्थित रूप में

और खुल कर नहीं आया।

छायावाद के बारे में हमेशा कुछ न कुछ कहना, लिखना रह ही जाता है, छूट जाता है और आप जो कहना चाहते हैं वो अधूरा रह जाता है। छायावाद मेरे शोध का विषय रहा और अब जब उस पुस्तक को उठा कर देखती हूँ तो वो हर तरह से अपूर्ण लगता है—सामग्री के तौर पर, समीक्षा के तौर पर, अभिव्यक्ति के तौर पर, तर्क के तौर पर, विश्लेषण के तौर पर और हर तौर पर। किसी भी आलोचक, समीक्षक या विद्वान की किताब उठा कर देखा जाए तो यह अधूरापन और अपूर्णता का बोध रहता ही है। छायावाद के जन्म, बाहरी प्रभाव, नामकरण, परिभाषा, प्रवृत्तियां, सार्थकता, विषय-विस्तार, सीमाएं, प्रासंगिकता, स्त्री-विमर्श और भी तमाम तथ्य कितना और कैसे समेटा जाए। बार-बार यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हर प्रसंग या विशेषता के लिए एक अलग पुस्तक होनी चाहिए। छायावाद में स्त्री-विमर्श को लेकर स्वतंत्र कोई पुस्तक नहीं है जब कि छायावाद से ही लगभग स्त्री-विमर्श की शुरुआत हुई। छायावाद स्त्री के सामाजिक अधिकार की नवजागरणकालीन परियोजनाओं को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में प्रकाश में लाया, आगे बढ़ाया। यह काम गद्य के ज़रिए ज्यादा हुआ खासकर छायावादी रचनाकारों ने स्त्री के मन, इच्छा, स्वतंत्रता आदि को प्रकृति और स्वतंत्रता संग्राम के साथ जोड़कर देखा। छायावाद युग में स्त्री-शिक्षा पर लेखकों ने बार-बार जोर दिया। 'सरस्वती' में स्त्री-शिक्षा पर अनेक लेख प्रकाशित हुए। स्त्री-समाज में इन सौ सालों में बहुत कुछ बदला है आज साहित्य और सामाजिक जीवन में स्त्री-विमर्श का दायरा हर तरफ अपनी जगह बना चुका है। आज के स्त्री-विमर्श और परिस्थितियों से तुलना की जाए तो निश्चित रूप से छायावाद के काव्य में ही नहीं तमाम वाद और युग आलोचना से बच नहीं पाएंगे।

स्त्री की पारंपरिक छवि जो सदियों से चली आ रही थी साहित्य में, समाज में, विचार में उसे अचानक तोड़ना और बदल पाना नामुमकिन था और ये किसी भी एक वाद, दशक या विचार प्रवाह के वश का नहीं था। जैसे देश की आजादी एक दिन के प्रयास भर से नहीं मिली वैसे ही पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा रची गई स्त्री की पारंपरिक छवि झांके की तरह बदल पाना असंभव था। हिंदी कविता में स्त्री की उपस्थिति का सच यही रहा है कि वो अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने वाली, समर्पित मां, बहन, बेटी, पत्नी हो जो किसी तरह के प्रश्न न उठाए, न अपनी पहचान पूछे। छायावाद में भी ये उपस्थिति रही है पर छायावादी कवियों ने इस उपस्थिति को सराहा, पहचाना कि स्त्री कैसे और किन-किन रूपों में हमारे जीवन, प्रेम और सहज संतुलन के लिए आवश्यक है। दूधनाथ सिंह की पुस्तक 'निराला आत्महंता आस्था' में

दूधनाथ सिंह लिखते हैं, “छायावाद नारी को समस्त भव्य प्रेरणाओं का उद्गम मानता था। वह उसे जीवन पर फैली हुई चांदनी और स्वप्नों की प्रतिमा कहता था और उसकी चेष्टा थी कि नारी कोमल, मृदुल, मोहिनी और आकर्षक बनी रहे जिससे पुरुष उसे देखकर अपनी क्लान्ति भूलने में समर्थ हो। स्पष्ट ही यह आग्रह पुरुष की वासना की तृप्ति का आग्रह था। छायावाद के उपचेतन में नारी का मोहिनी रूप निवास करता था, केवल ऊपर वाले मन से छायावाद नारी को दिव्य के पद पर आसीन रखना चाहता था”। छायावाद नारी समस्या पर इस दृष्टि से विचार नहीं करता था कि नारी पुरुष के साथ समकक्षता कैसे प्राप्त कर सकती है। वह नारी को समस्त भव्य प्रेरणाओं का उद्गम मानता था। छायावादी कवि नारी रूप को दर्शन, प्रकृति के मानवीकरण, संबंधों के आदर्श और समर्पण के मानक रूप से इतर नहीं देख रख पाए। अपने काव्य में या निजी जीवन प्रसंगों के उपयोग में छायावादी कवि उन्मुक्त रूप से अपने किसी भी भाव को अभिव्यक्त नहीं कर पाए हैं, खासकर प्रेम और नारी के प्रसंगों को। छायावादी कवि जानता है कि उसके पास संपूर्ण विद्रोह के अवसर नहीं। ऐसे में प्रतीक, बिंब प्रकृति के माध्यम से वो संकेतों से अपना प्रेम और आक्रोश व्यक्त करता है। आज जो स्त्री-विमर्श की बयार बह रही है और विकासोन्मुख समानता स्वतंत्रता का नाद करती हुई कविताएं सामने आ रही हैं उसका उत्स छायावाद से है।

छायावादी कविता अपनी नई सौंदर्य चेतना के लिए अलग से पहचानी जाती है। विशेषकर स्त्री सौंदर्य कविता में इतने प्रत्यक्ष उन्मुक्त और उदात्त रूप में उनसे पहले प्रस्तुत नहीं किया गया। पंत के लिए नारी प्रकृतिमयी और प्रकृति नारीमयी है। प्रकृति और नारी की संधि-भूमि में पंत नारी को देखते हैं। पंत नारी के अपूर्व सौंदर्य पर मुग्ध हैं। वह नारी को अकेली सुंदरता कल्याणी मानता है। पंत की छायावादी कविताओं में जिस नारी महिमा गाई गई है वह ऐंद्रिय-विलास और भोग से पूर्णतः दूर है। इतना ही नहीं उसमें प्रेम की पवित्रता है और वह पावनता है जो गंगा के जल में होती है या त्रिवेणी की लहरों में जो संगीत होता है, वही संगीत उनकी नारी की वाणी में मिलता है। (तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा स्नान) यही भाव ‘उच्छ्वास’ की बालिका में विद्यमान है। उसमें शैशव का भोलापन भी दिखाई देता है। ‘सरलपन ही था उसका मन निरालापन ही उसका आभूषण’ जैसी पंक्तियों में यही शुचिता और सरलता देखी जा सकती है। अपनी कुछ रचनाओं के माध्यम से पंत ने नारी को रहस्यमय रूप में भी प्रस्तुत किया है। पंत ने नारी को कल्याणकारी माना है। नारी का पहला रूप बालिका के रूप में ‘वीणा’ में मिलता है। उसी समय पंत समानांतर प्रकृति से भी उतने ही प्रभावित थे और लगभग भ्रमित थे कि प्रकृति अधिक सुखकारी है या नारी? प्रकृति के सौंदर्य में खोना चाहिए या नारी के। जब उन्हें खुद ही नहीं स्पष्ट कि प्रकृति को चुनना है या नारी को तो किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना ही व्यर्थ है।

लेकिन पंत भी प्रायः नारी के कोमल रूप पर ही मुग्ध हैं। पंत स्त्री को ‘देवि मां सहचरि प्राण, सखी, मनोरम मित्र’ कहकर प्रिय को नई संबंध-भावना के अनुरूप संबोधन देते हैं। इसे उस समय के हिसाब से एक युगांतकारी कल्पना के अनुरूप नई सार्थकता या मानवीय अर्थवत्ता के अनुभव के रूप में देख सकते हैं। पर कहीं न कहीं ये आदर्श रूप ही रहा। सही मायनों में पंत अगर स्त्री की समानता या स्वतंत्रता की बात करते तो उसके केवल सौंदर्य पक्ष को ही नहीं उभारते क्योंकि स्वतंत्रता और समानता का कोई संबंध सौंदर्य से नहीं। ‘अप्सरा’ शीर्षक कविता में उन्होंने सौंदर्य के बहाने एक आधुनिक और आत्म सजग स्त्री की कल्पना की। प्रश्न यह उठता है कि सजग स्त्री का चित्रण करने के लिए बहाने की क्यों जरूरत है और वो भी सौंदर्य को

ही क्यों एक अहम् पक्ष माना उन्होंने? पंत की नारी भावना स्त्री-सौंदर्य को लौकिक आयामों में ही प्रस्तुत नहीं करती बल्कि उसे सृष्टि के प्राणों का आधार स्वीकार करती है। पंत की नारी भावना सौंदर्य के बिना अधूरी है अर्थात् सौंदर्य नहीं तो नारी नहीं। नारी का यह रूप पंत ने तभी तक अपनाया, जब तक वे छायावाद के प्रभाव में रहे। जब इस रोमानी कल्पना के सुगंधित जगत से निकलकर यथार्थ लोक में प्रगतिवाद के प्रभाव में आए तो उन्हें जग-जीवन में अनेक विषमताओं के दर्शन हुए। उन्होंने नारी की स्थिति को व्यवहारिकता के चश्मे से देखने का प्रयास किया। पंत ने जब समझा कि जीवन के अन्य उपकरण की तरह नारी पर भी पुरुषों ने अपना अधिकार और वर्चस्व कायम कर लिया है तो वो कहते हैं कि नारी की यह स्थिति न केवल नारी के लिए बल्कि समाज के लिए भी घाटक है। जब तक नारी की इस स्थिति को बदलकर उसे मानवी के पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जाएगा, तब तक समाज का विकास नहीं हो सकता अतः उन्होंने उद्घोषणा की, “मुक्त करो जीवन संगिनी को जननी, देवी को आदृत/जग जीवन में मानव के संग हो मानवी प्रतिष्ठित”।

आधुनिक युग में जो स्त्री-विमर्श है उसमें नैतिकता और काम से संबंधित मूल्य को महत्व नहीं दिया जाता है। सेक्स, प्रेम, विवाह, शुचिता कौमार्य, नैतिकता की अवधारणा ये सब स्त्री भी तय करना चाहती है और करने भी लगी है। प्राचीन मूल्यों के अंतर्गत यह स्वीकार किया जाता था कि नारी की पवित्रता-अपवित्रता उसके शरीर से है। यदि शरीर से किसी नारी को कोई पर पुरुष छू ले तो वह अपवित्र हो जाती थी। पंत ने इस बारे में लिखा भी है, “सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित/पूत योनि वह मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित छापंत ने नारी-विशोभ संबंधी कुछ बातें ‘आधुनिका’ कविता में व्यक्त की है। ऐसा लगता है कि कवि को पश्चिमी सभ्यता में रंगी-पुती नारियों के प्रति कोई आदर नहीं। पंत के इस अंतर्विरोधी कथन पर फूल चंद पांडेय लिखते हैं, “मुझे पता नहीं और यह समझ में भी नहीं आता कि कवि कहीं तो स्वतंत्रता के लिए पुकार उठता है, चीत्कार मचाता है, आदर्श प्रस्तुत करता है, सिद्धांतवादी बनता है परंतु जहां कहीं उसे उस स्वतंत्र-भावना की मूर्ति के रूप में नारी मिलती है, उसका हृदय उसे आदर नहीं करता। यह हाथी के दांतों जैसी कथा समझ में नहीं आती”। प्रगतिवादी काल तक आते-आते उसकी सहानुभूति शोषितों के प्रति अधिक थी। यही कारण है कि मजदूरों के प्रति कविता में कवि ने नारी के स्वस्थ चित्र को उपस्थित किया है। कुल मिलाकर ये है कि पंत को स्त्री का साथ कभी मिला नहीं। बचपन में मां गुजर गई। विवाह किया नहीं, ऐसा व्यक्ति स्त्री के बारे में क्या स्पष्ट धारणा रख पाएगा।

प्रसाद की कविताओं में नारी से संबंधित समानता या अधिकार की बात उतनी नहीं की गई है जितना उनके उपन्यास, कहानी या निबंध में मिलता है। प्रसाद काव्य में नारी अस्मिता या अधिकार की बात नहीं करते जितना नारी के आदर्श रूप, मोहक रूप, सौंदर्यमयी रूप, कोमल रूप, विरहिणी रूप की बात करते हैं। प्रसाद नारी को श्रद्धा के प्रतीक के रूप में स्वीकारते हैं (नारी तुम केवल श्रद्धा हो)। क्या नारी केवल श्रद्धा या प्रेम की आकांक्षा की पात्र है? या उसका कोई और भी अस्तित्व है? कहने का मतलब ये कि नारी प्रेम दे, श्रद्धा के योग्य हो, प्रेरणा दे, संतान दे, सुख दे, दे, दे, और बस दे। प्रसाद का संकोची स्वभाव और उस समय के आदर्शवादी और परंपरावादी प्रभाव ने उन्हें पूरी तरह खुलकर बाहर आने नहीं दिया तथा कई स्थलों पर उनकी अनुभूतियां व अभिव्यक्ति अधूरी और अपूर्ण ही रह गई हैं। प्रसाद के सामने पुराने समाज से बाहर निकलने के लिए बेचैन नए मनुष्य की पीड़ाएं थीं पर उन पीड़ाओं का उन्होंने कोई उपचार नहीं किया। प्रसाद

का मानना था कि भारत के धार्मिक समाज में एक व्यापक आलोड़न है पर यह परंपरागत स्त्री-पुरुष संबंध को नहीं बदल पा रहा है। प्रसाद ने ये नहीं कहा कि ये धर्म, समाज और व्यवस्था हमने ही बनाए हैं और हमें ही बदलना होगा। पुरुष कभी धर्म और कभी प्रेम की आड़ में निजी आज़ादी लेते हैं और ये सदियों से होता आया है। वे हमेशा अपनी महत्वाकांक्षाएं पूरी करना चाहते हैं, जबकि स्त्रियां उनकी महत्वाकांक्षा की शिकार होती हैं। उनका हर तरह से शोषण होता आया है। प्रसाद ने स्त्री की स्वतंत्रता का स्वप्न छायावादी ज़मीन से देखा था। उनकी 'चित्राधार' में संकलित एक आरंभिक पद्यमय गद्य रचना है 'उर्वशी' जो कम चर्चित है। इसमें उर्वशी कामी, अभिमानी और स्वामित्वाक्षी पुरुषों को त्यागती हुई प्राचीन मिथकीय कथा में यह कहकर नया मोड़ ला देती है, "मैं तो पहले ही कह चुकी हूँ कि मैं स्वतंत्र हूँ। इसी स्वतंत्रता को छीनने के लिए आगे चलकर अनेक कठोर नियम बनेंगे, बड़े-बड़े प्रलोभन और बड़ी-बड़ी धमकियां होंगी, फिर भी हमारा दल बना रहेगा और स्वतंत्र रहेगा।" प्रसाद ने कहीं न कहीं भविष्य को समझ लिया था कि देश की आज़ादी के साथ स्त्रियों को भी आज़ादी मिलेगी। जैसे देश को कई सौ साल लगे आज़ादी पाने के लिए वैसे ही स्त्रियों को भी लड़ना पड़ेगा और वो विजय का वरण करेंगी। स्त्रियों के लिए आज भी अलग तरह के कम नियम नहीं हैं, प्रसाधनों-गहनों, व्रत-त्योहार के नाम पर कम बंधन नहीं हैं और धमकियां, मारने-पीटने, बलात्कार की कम घटनाएं नहीं हैं। प्रसाद ने जहां प्रेम को महत्ता दी वहीं अपनी कृतियों में चंपा, मधुलिका, देवसेना, घंटी जैसे चरित्र रखकर स्त्री की स्वतंत्रता का उद्घोष भी किया। प्रसाद चाहते थे कि स्त्रियां खुद अपने लिए सोचें और सक्रिय हों। कंकाल की स्त्री पात्र घंटी कहती है, "पुरुष स्त्रियों को उतनी ही शिक्षा और ज्ञान देना चाहते हैं, जितना उनके स्वार्थ में बाधक न हो। इससे संकेत मिलता है कि स्त्रियां अब अपनी मुक्ति के लिए पुरुषों पर निर्भर नहीं रहना चाहतीं। खुद आवाज़ उठाना और प्रयास करना चाहती हैं। स्पष्ट है कि प्रसाद अपने समय के स्त्री आंदोलन से प्रभावित थे पर केवल प्रभावित। छायावादी भावभूमि की इस विराटता की ओर दृष्टि जानी चाहिए कि इसमें स्त्री की स्वतंत्रता प्रतिध्वनित हुई है और स्त्री पर ज़बरदस्ती का विरोध हुआ है। यह अलग बात है कि 'विरोध' विरोध जैसे स्वर में न होकर कोमल व मृदु शब्दों में किया गया है। आज से सौ साल पहले स्त्रियों के प्रेम, आज़ादी, सेक्स, आदि को लेकर प्रसाद ने जो बातें रखी थीं वो आज यथार्थ में घटित हो रही हैं। प्रसाद की अधिकांश रचनाएं अतीत की पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं पर केवल इस कारण उसे अप्रासंगिक कहा जाए फिर तो दुनिया की अनेक श्रेष्ठ रचनाओं को 'अप्रासंगिक' जैसी उपमा का शिकार होना पड़ेगा। समय का और परिस्थितियों का यथावत चित्रण ही प्रासंगिकता का मानदंड नहीं। लेखक युगबोध, भावबोध को संप्रेषित करने के लिए इतिहास का कोई भी प्रसंग ले इस पर कोई भी आपत्ति नहीं कर सकता।

पंत और प्रसाद की अपेक्षा निराला ने स्त्री स्वातंत्र्य और स्त्री मुक्ति के मुद्दों पर ज्यादा सटीक ढंग से विचार किया। निराला की मान्यता थी कि 'भारतीय स्त्रियां दूसरों को अपनी आंखों से देखें, अपने को दूसरों की आंखों से नहीं। निराला ने नारी को जग के रंगमंच पर भारतीय आदर्श पत्नी एवं गृहिणी के रूप में देखा है। 'तुलसीदास' की रत्नावली पति की मुक्ति का कारण है। रत्नावली पत्नी का उदात्त और दिव्य रूप है जो पुरुष को सत्य की ओर प्रेरित करने वाली है। निराला ने भी स्त्री को देवी, बेटी, बहन, शक्तिदायिनी मां के रूप में अपने श्रद्धा का पात्र बनाया गया है। रामविलास शर्मा ने निराला का साहित्य साधना के दूसरे खंड में बिलकुल ठीक कहा है कि निराला नारी सौंदर्य, पुरुष और नारी की काम चेतना और उस चेतना की स्वाभाविक परिण

ति के कवि हैं। निराला का अधिकांश गद्य साहित्य चाहे वो उपन्यास विधा हो या कहानी, नारी केंद्रित ही है। यहां तक कि उपन्यास के शीर्षक भी नारी पात्रों के नाम पर रखे गए हैं। निराला ने अपनी पुत्री की मृत्यु पर लिखे शोकगीत अपने जीवन के लिए पुत्री को वह महत्व दिया जो उनसे पहले और किसी कवि ने नहीं दिया था न ही किसी ने अपनी पुत्री के लिए काव्य के रूप में हृदय की पीड़ा निकाल कर रखने की कोशिश की। उन्होंने अपने संपूर्ण कवि-जीवन में काव्य के क्षेत्र में दो महान कविताओं 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज स्मृति' की रचना कर स्त्री को एक अलग ही भावभूमि पर ला दिया। एक नए विज्ञान को जन्म दिया। नारी संबंधी रचनाओं में निराला ने दैहिक सौंदर्य की अपेक्षा उसके अंतर्मन की सुंदरता को ज्यादा उद्घाटित किया है। नारी के प्रति अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है- "मुक्ति का सूत्र स्त्रियों के ही हाथ में है। जब तक हमारी गृहदेवियां लक्ष्मी और सरस्वती के रूपों में हमारे गृह का अंधकार दूर नहीं करतीं तब तक सुख तथा शांति की कल्पना पुरुषों के मस्तिष्क की बहुत बड़ी भूल है, यह हर एक भारतवासी को समझ जाना चाहिए"। छायावादी काव्य में निराला ने नारी की सभी छवियों को सात्विक अभिव्यक्ति दी है। निराला के नारीत्व की धारणा करुणा, त्याग, स्वाभिमान, सौंदर्य और प्रणय से परिपूरित है तथा वह जीवन के वैयक्तिक, सामाजिक एवं पारिवारिक संदर्भों से जुड़ी हुई भी है। नंदकिशोर नवल ने अपनी पुस्तक 'निराला और मुक्तिबोध' में लिखा है, "जिस समाज में नारी के रूप में जन्म लेना ही पाप माना जाता हो, जिसमें नारी को कोई सामाजिक और राजनैतिक अधिकार न प्राप्त हो, जिसमें वह संपत्ति की हकदार न मानी गई हो, जिसमें पति की मृत्यु के बाद उसे जिंदा जला देने का धार्मिक विधान हो और जिसमें माता-पिता द्वारा नवजात पुत्रियों की हत्या तक कर देने की परंपरा चली आती हो, उसमें पत्नी-प्रेम और पुत्री-प्रेम की कविता लिखना, पत्नी की मुक्ति के लिए अपनी एक आंख तक निकालकर देवता को चढ़ाने के लिए उद्दत हो जाना और पुत्री की मृत्यु पर विलाप करना तथा अपने पितृत्व की निरर्थकता का एहसास करना एक मानवीय ही नहीं क्रांतिकारी कार्य है"। 'राम की शक्ति पूजा' और 'सरोज स्मृति' हिंदी की महान कविता तो है ही साथ में स्वतंत्रता और समानता के जनतांत्रिक मूल्यों से प्रेरित अंतरराष्ट्रीय नारी मुक्ति के आंदोलन से संबद्ध भी है।

छायावाद के अंतर्गत विवेचना की जो नई संभावनाएं बन रही हैं वे सबसे ज्यादा महादेवी के संदर्भ में बन रही हैं क्योंकि आज से 100 साल पहले महादेवी ने स्त्री की स्थिति स्वतंत्रता, शिक्षा, समानता पर जो बातें कही थीं वो आज बेहद प्रासंगिक हैं। महादेवी वर्मा की कविता अधिकांशतः नारी वेदना को उजागर करती है क्योंकि महादेवी ने अपने जन्म के साथ ही इस वेदना को जीया था। महादेवी अपने स्त्री संबंधी विचार को काव्य में कभी प्रकृति, कभी पीड़ा, कभी रहस्य, कभी संकेतों के माध्यम से ही कहती हैं। अपने काव्य-लेखन के आरंभिक प्रयासों को महादेवी 'दुधमुंहा प्रयास' कहती हैं। इनमें सपनों की भरमार है (इन सपनों के पंख न काटो, इन सपनों की गति मत बांधो) लेकिन इन कोमल सपनों को टूटना ही था क्योंकि सपने टूटने के बाद ही जागरण और सजगता की स्थिति आती है। महादेवी ने निजी दुःख को स्त्री की चिरंतन की वेदना और अंततः विश्व-वेदना से जोड़ा है। महादेवी की स्त्री-शिक्षा के लिए उनकी प्रतिबद्धता उनके द्वारा लड़कियों के लिए शुरू किए गए कन्या विद्यापीठ के रूप में हुई। 'शृंखला की कड़ियां' उनके सामाजिक चिंतन और स्त्री की पराधीनता के स्वरूप को इंगित करती हुई महत्वपूर्ण पुस्तक है। 'शृंखला की कड़ियां' जो 1936 में प्रकाशित हुई, उसमें महादेवी स्त्री पराधीनता की मानसिकता पर विस्तार से चर्चा करती हैं और सशक्तीकरण हेतु शिक्षा

तथा स्वावलंबन पर जोर देते हुए मानसिक दासता से मुक्ति पाने का आग्रह करती हैं। इस पुस्तक के लेख पराधीन भारत में स्त्री स्वातंत्र्य के प्रश्नों को सिलसिलेवार प्रस्तुत करते हैं। महादेवी के संपूर्ण कृतित्व में अद्भुत संघर्ष है, पराजय कहीं नहीं। महादेवी समस्त स्त्री जाति हैं। महादेवी समस्त भारतीय स्त्री में समाहित हैं और उन्हें स्वर व शब्द प्रदान करती हैं। दूधनाथ सिंह कहते हैं, “मैं नीर भरी दुःख की बदली में” ‘मैं’ दुनिया की एक सार्वजनिक औरत है, केवल महादेवी नहीं इस विस्तृत नभ के किसी कोने में उसके लिए कोई जगह का न होना पुरुष सत्ता पर एक कठिन व्यंग्य है। उसका ‘उमड़ना’ और मिट जाना एक सार्वजनिक स्त्री-नियति का प्रतीक है। भारतीय नारी की अदृष्ट विडंबना को उजागर करते हुए उन्होंने लिखा कि एक ओर तो वह देवी के प्रतिष्ठापूर्ण पद पर शोभित है तो दूसरी ओर परवश भी। उनका कथन है, “वह पवित्र देव मंदिर की अधिष्ठात्री देवी भी बन चुकी है और अपने गृह के मलिन कोने की बंदिनी भी।” पर इस निराशा और यथार्थबोध के बावजूद उनकी आशा और आत्मविश्वास में कहीं कोई कमी नहीं है। अपने अस्तित्व को कहीं भी कम कर के नहीं आंकतीं, बराबरी का दावा करती हैं (उनसे कैसे छोटा है मेरा यह भिक्षुक जीवन)। महादेवी भी काव्य-विकास की यात्रा के साथ और प्रगतिवाद के प्रभाव के साथ अपने विचारों में स्पष्टता और प्रखरता लाती हैं। उनका प्रारंभिक वैयक्तिक पीड़ा संघर्ष बाद में समष्टि में विलीन हो जाता है।

हर कला, साहित्य, कविता समय, अभ्यास और अनुभवों के साथ मंजती है, परिष्कृत होती है। छायावाद की कविताओं और कवियों के साथ भी ऐसा ही हुआ। सभी छायावादी कवियों ने बाद में ये तथ्य स्वीकारा भी और उनकी काव्य की विकास यात्रा देखने के बाद साफ पता चलता है कि उनकी आरंभिक कविताओं से बाद की कविताओं में पर्याप्त वैचारिक परिमार्जन, स्थिरता और गंभीरता है। छायावाद ने स्त्री-पुरुष संबंध की एक नई भावना की ओर ध्यान आकृष्ट किया हालांकि ये अधूरा, अल्प, अपूर्ण और अतृप्त-सा रहा और कुछ खटकता रहा। कुछ और की तलाश हमें नए की ओर ले जाती है। यह तलाश ही एक नई रचना, नई धारणा को जन्म देती है, नई पुस्तक को और नए बहस व चिंतन को भी। कुछ और भी अर्थात् जो अब तक कहा नहीं गया या शायद कहा तो गया पर वैसे नहीं कहा गया जैसे समय की मांग है। समय की मांग क्या है, यह एक अहम सवाल है। छायावाद में पहली बार नारी को सामाजिक चेतना का हिस्सा माना गया। आदर्शवादी रूप में ही सही तमाम अपूर्णताओं और अस्पष्टता पर वो विविध संबंधों के नए रूप में हमारे सामने आईं।

परमानंद श्रीवास्तव अपनी किताब ‘कविता का उत्तर जीवन’ में कहते हैं, “छायावाद इसलिए याद किया जाएगा कि उसने स्वाधीनता-संघर्ष के कठिन दिनों में कविता की अर्थभूमि का विस्तार किया और कविता की मुक्ति तथा मनुष्य की मुक्ति के लिए एक ही रणक्षेत्र सुनिश्चित करने की कोशिश की। छायावाद मूल्य दर्शन की कविता है और ऐसी कविता के बीत जाने या विगत की वस्तु हो जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता।” विश्वनाथ प्रसाद तिवारी अपनी पुस्तक ‘रचना के सरोकार’ में कहते हैं, “विरोध केवल छायावाद के पलायनवादी दृष्टि का होना चाहिए न कि छायावाद का।” छायावाद भी विद्रोह का काव्य है। हिंदी के जो नए कवि छायावाद का विरोध मात्र करके आधुनिक और यथार्थवादी होने का ढोंग करते हैं उनका भ्रम खत्म होना चाहिए।

छायावाद से प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और तमाम वादों, विचारधाराओं के परिवर्तन के साथ स्त्री-चिंतन की दिशा व दशा बदलने लगी। एक क्रांतिकारी परिवर्तन दिखाई देने लगा जो हर समाज, वर्ग और उम्र में दिखाई दे रहा था। ये परिवर्तन अभी भी अत्यंत सक्रिय व सजग अवस्था

में है। आज साहित्य में, काव्य में, सिनेमा में, समाज में स्त्री-विमर्श और स्त्री पर केंद्रित मुद्दे पूरी तरह बदल गए हैं पर समाज का एक बड़ा तबका स्त्री की असमानताओं से आज भी जूझ रहा है। समकालीन दौर में कविता तथा अन्य सृजनात्मक क्षेत्रों में नारी की समानता और अधिकारों पर बल देने वाला स्वर आज प्रखर और सार्थक है। आज स्त्री ही नहीं, पुरुष रचनाकार भी स्त्री के प्रति अन्याय और असमानता को अपनी कविताओं में उसी पीड़ा के साथ महसूस करते हैं और लिखते हैं। प्रयाग शुक्ल की कविता ‘उसका चेहरा’ में एक ऐसी स्त्री मौजूद है, जो जीवन में दुःख-दर्द होने के बावजूद भी हंस रही है। जीवन और समाज की वास्तविकताओं, दूषित व्यवस्था के प्रति विद्रोह, स्त्री के प्रति होने वाला शोषण ही समकालीन कवियों की कविताओं का कथ्य रहा है। कात्यायनी, सविता सिंह, अनामिका, कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, नासिरा शर्मा, मंजुल भगत, प्रभा खेतान और भी तमाम नाम हैं जो सही अर्थों में अपनी रचना में स्त्री की वास्तविक समस्याएं रख रही हैं बिना किसी आड़ के। स्त्री-विमर्श ने कई पुरानी रूढ़ताओं को ध्वस्त कर दिया है। आज की स्त्री वो सब कुछ नहीं स्वीकारती जिसे करने के लिए देवी मां प्राण जैसे संबोधन के भार तले उसे दबाया गया और आदर्श के बोझ तले उसका होना उससे छीना गया। स्त्री-विमर्श पर लिखी जा रही कविताएं सिर्फ किसी स्त्री विशेष पर नहीं, समाज में स्त्रियों की जगह क्या होनी चाहिए को लेकर हैं। अभी बहुत कुछ शेष है जिस पर कविताएं लिखी जानी हैं जिस पर अभी भी हम खुल कर बात नहीं कर पाते। अस्मितताओं की मुक्ति की कामना और अभिव्यक्ति की प्रबल आकांक्षा के बीच स्त्री मुक्ति की सार्वभौमिक आवाज समकालीन हिंदी कविताओं में भिन्न-भिन्न रूपों में हमारे सामने आ रही हैं और आएंगी। समकालीन स्त्री कविता में परंपरागत स्त्री छवि को तोड़ने वाली स्त्री है। वह नई राह खोजने वाली, अपने लिए स्वयं राह बनाने वाली, आत्मनिर्भर और सजग स्त्री है लिए। उसे पुरुष का साथ चाहिए उस पर निर्भरता और दायित्व जगह नहीं। समकालीन काव्य की स्त्री स्वयं संतान पालने का भी माहिर रखती है और दुनिया घूमने का भी। कमाने का हौसला ही नहीं रखती है बल्कि कमा कर परिवार चलाती है। अपनी नैतिकता, दायरा, उड़ान खुद तय करना या समझना चाहती है। ऐसा नहीं है कि ये आधुनिक या समकालीन नारी में कोई नैतिकता, संस्कार, मर्यादाएं, संवेदनाएं, भावनाएं आदि नहीं हैं ये सब वैसे ही हैं जैसे जन्म के साथ ये मिलती हैं। बात बस इतनी है कि इन सबके साथ समकालीन स्त्री अपनी जिंदगी भी जीना चाहती है और इसे खुल कर अभिव्यक्त करती है और अभिव्यक्त करना चाहती है। स्त्री-विमर्श का एक सबसे महत्वपूर्ण पक्ष ये भी है कि उसे अभिव्यक्त होने दिया जाए और उसकी अभिव्यक्ति को उसके स्तर पर समझा जाए न कि पुरुष पाठ, स्त्री पाठ जैसे लिंगभेदी दृष्टि से उसका आकलन किया जाए। □

कृपया ध्यान दें

चंदा भेजने और चंदे के बारे में पूछताछ के लिए अथवा पत्रिका प्राप्त न होने की स्थिति में कृपया वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक से सीधे संपर्क करें।

पता : वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 48-53, सूचना भवन सी.जी.ओ.

कॉम्पलेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

फोन नं. : 011-24367453

ई-मेल : pdjucir @ gmail.com

छायावाद के सौ साल

मनीषा झा



संपर्क : हिंदी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय, राजा राम मोहनपुर, सिलीगुड़ी, जिला दार्जिलिंग-734013
मो. 9434462850

वर्ष है सन् 2018, छायावाद ने सौ साल पूरे कर लिए हैं। सौ साल बहुतों के पूरे हो जाते हैं, पर सब स्मरण में नहीं रहते। छायावाद में आकर्षण है। वह नई रचनात्मक चेतना से दीप्त है, इसलिए बार-बार कवियों, लेखकों, चिंतकों और विचारकों को अपनी ओर खींचता रहा है। सन् 1918 से लेकर आज तक छायावाद के कितने ही कोणों से अवलोकन, सिंहावलोकन, पुनरावलोकन, मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन हो चुके हैं। फिर भी आज के बदले माहौल में उस पर सोचने-विचारने की गुंजाइश बची हुई है।

छायावाद मूलतः काव्यांदोलन है। छायावाद के समकालीन आलोचना पुरुष आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे आधुनिक कविता के तीसरे उत्थान के अंतर्गत रखा है। शुक्लजी के 'हिंदी साहित्य का इतिहास' से पहले मुकुटधर पांडेय सन् 1920 में 'हिंदी में छायावाद' लेखमाला लिखकर छायावादी कविता को प्रदर्शित करने का काम कर चुके थे। शुक्लजी की छायावाद के बारे में धारणा है कि "रहस्यवाद", 'प्रतीकवाद' या 'चित्रभाषावाद' के बंधे हुए क्षेत्र के भीतर चलने वाले काव्य ने 'छायावाद' नाम ग्रहण किया। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला तथा महादेवी वर्मा के छायावाद के प्रमुख कवि मानते हुए भगवती चरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी', नरेंद्र शर्मा और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' को भी उल्लेखनीय छायावादी कवि माना गया। बाद के वर्षों में यह जरूरत महसूस की जाने लगी कि छायावाद केवल इतना ही नहीं, और भी बहुत कुछ है। अतः विभिन्न कोणों से इसकी व्यापक व्याख्या की गई। स्वयं छायावादी कवियों-प्रसाद ने अपने लेखों तथा पंत ने अपनी पुस्तक 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन के माध्यम से छायावाद का स्वरूप स्पष्ट किया। छायावाद के समर्थक आलोचक नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी तथा डॉ. नगेन्द्र ने इसके आयामों पर प्रकाश डाला तो डॉ. देवराज ने 'छायावाद का पतन' पुस्तक लिखकर इसकी सीमाओं को भी उजागर किया। छायावाद के मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन का सिलसिला यही नहीं थमा। सन् 1955 में नामवर सिंह कृत पुस्तक 'छायावाद' सामने आई, जिसमें छायावाद पर पड़ी छाया पर प्रकाश डालकर उसका रूप कुछ और स्पष्ट किया गया।

लगभग बीस वर्षों के काव्यांदोलन के लिए इतनी व्याख्याएं इसकी व्यापकता का सूचक हैं। सामान्यतः सन् 1918 से सन् 1936 तक

छायावाद की समय-सीमा मान ली गई है। क्या इस दौर की कविता के लिए 'छायावाद' नाम उचित है? और इस दौर में साहित्य की अन्य विधा में जो लिखा गया, क्या वह भी छायावाद के भीतर आता है? 'छायावाद' के विषय में फैली गड़बड़ी उसके नाम के कारण भी है। छाया यानी अस्पष्टता। सुधीजन ये तक कह गए— "छायावाद से क्या मतलब है कुछ समझ में नहीं आता"। फिर भी 'छायावाद' पर से परदा उठाने का काम निरंतर चलता रहा। अंततः छायावाद नाम ही स्वीकृत हुआ। बच्चन सिंह अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' (1996) में इस काल खंड को छायावाद के बदले 'स्वच्छंदतावाद' नाम दिया है। तर्क यह कि इससे साहित्य की सभी विधाओं को निश्चित समय और प्रवृत्ति तय मिलेगी। रामचंद्र शुक्ल ने छायावाद और स्वच्छंदतावाद को अलग-अलग माना है जबकि नामवर सिंह छायावाद नाम ही रहने देने के पक्ष में दिखते हैं। इतना जरूर है कि वे छायावाद को व्यापक रूप में देखते हुए उसकी व्याप्ति साहित्य की सभी विधाओं में मानते हैं। वे लिखते हैं— "छायावाद वस्तुतः एक व्यापक जीवन-दृष्टि थी जिसकी अभिव्यक्ति सामान्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि सभी माध्यमों से हुई परंतु भावात्मकता के कारण उसकी विशेष अभिव्यक्ति कविता में ही हो सकी।" छायावाद वस्तुतः कविता के लिए दिया गया नाम था और कविता में ही उसने आकार ग्रहण किया।



'निराला'

छायावाद अपने विषय-पक्ष और भाषिक पक्ष— दोनों में पूर्ववर्ती कविता से बिल्कुल भिन्न, नवीन और वैविध्यपूर्ण है। आधुनिक कविता के इतिहास में यह एक विलक्षण काव्य-धारा है। अपने इन गुणों के कारण यह आधुनिक युग का स्वर्णयुग तक कहा जाने लगा। छायावादी कविता में मौजूद रूढ़ि-विरोध, मुक्ति उन्मुखी चेतना, मानवतावाद, देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, व्यक्तित्व चेतना, सामाजिक चेतना, भाषागत लालित्य आदि उसे वैविध्यपूर्ण और विलक्षण बनाते हैं। शुक्लेतर समीक्षा-युग में छायावाद के जिन चार कवियों— पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी से छायावादी की पहचान है, पर कितने शोध हुए? माना जाता है कि छायावादी चतुर्वर्ण में निराला पर सबसे ज्यादा काम हुआ।

फिर पंत की बारी आती है (नामवरजी ने पंत के तीन-चौथाई कविता को कूड़ा माना है), फिर महादेवी की बारी। प्रसाद पर अपेक्षाकृत कम लोगों की दृष्टि गई है, यह भी चर्चा में है। प्रसाद और प्रेमचंद समकालीन थे, एक ही शहर में रहते थे, दोनों की भेंट भी होती थी,

बातचीत भी होती थी मगर प्रेमचंद-साहित्य आलोचना में प्रसाद-साहित्य से ज्यादा स्थान घेरता है— यह सोचने-विचार से की बात है।

छायावाद नवोन्मेष से युक्त है। छायावादी नवोन्मेष का सबसे सशक्त पक्ष है— निजी अनुभूति का समाजीकरण। यह स्वाधीनता की चेतना के कारण संभव हुआ। हालांकि स्वच्छंदता भी एक परंपरा रही है हिंदी काव्य में, पर स्वाधीन चेतना नवजागरण के परिणामस्वरूप आया। छायावाद नवजागरण का प्रतिफल होने के कारण व्यापक स्वाधीन चेतना से युक्त है। कवियों ने जिसे निजी या व्यक्तिगत स्तर पर अनुभव किया, उसे खुले मन से समाज के सामने अभिव्यक्त किया। छायावादी-कवियों की यह इच्छा भी दिखती है कि उसकी अभिव्यक्ति और अनुभूति को समाज स्वीकारे क्योंकि वे भी समाज के ही अंग हैं पर यह संभव नहीं होता रूढ़िगस्त समाज-व्यवस्था में। दुःख उत्पन्न होना स्वाभाविक है। छायावाद में दुःख और वेदना की अधिकता इसीलिए है। प्रकृति की विराट और उन्मुख दुनिया छायावादी कवि की आंतरिक दुनिया से मेल खाती है।

प्रकृति उन्हें आकर्षित करती है। यहां शांति है। व्याथित हृदय को प्रकृति से सहारा मिलता है। कवि प्रकृति की ओर जाना चाहता है। “ले चल मुझे भुलावा देकर। मेरे नाविक धीरे-धीरे।” पर बात केवल इतनी-सी नहीं है। प्रकृति विराट है, उसमें जबरदस्त आकर्षण है। वह मनुष्य को सीमायुक्त भौतिक संसार से दूर सीमाहीन विराट शक्ति के साथ जोड़ने की क्षमता भी रखती है। छायावादी कविता में प्रकृति मनुष्य को अध्यात्म का अनुभव कराने वाला माध्यम भी है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की कविता में नाव, नाविक और पथिक के तार गहराई से जुड़े हैं। ‘इस पार’ की सीमा है, ‘उस पार’ असीम है। असीम में मिलना जीवन की सार्थकता है। महादेवी कहती हैं— “जब असीम से हो जाएगा, मेरी लघु सीमा का मेल।” यानी इस घड़ी का इंतजार है, जो कि ‘जब’ शब्द है ध्वनित है। यही लक्ष्य है जीवन का इसीलिए साधना है, जलते रहने की, आंसू बनकर पिघलते रहने की। आंसू घनीभूत भावना के कारण है।

ऐसा भी नहीं है कि छायावादी कवि अपनी व्यक्तिगत दुनिया में डूबा रहता है, समाज और मानव से उसे कोई सरोकार नहीं। बात यह है कि वह पारंपरिक रूढ़िगस्त समाज-व्यवस्था में परिवर्तन चाहता है। रूढ़िमुक्त मानव-समाज की परिकल्पना है छायावाद में। कल्पना है एक ऐसी धरती की जहां मनुष्य से लेकर हर प्राणी अधिकारपूर्वक निर्भय रह सके। रामचंद्र शुक्ल जिस भाव-प्रसार को मनुष्यता की पहचान बताते हैं वह छायावाद में चरम पर है। याद आती है निराला की ‘भिक्षुक’ कविता “आओ मेरे हृदय में है अमृत, मैं तुम्हें सींच दूंगा। अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम, तुम्हारा दुःख अपने हृदय में खींच लूंगा।” ‘कामायनी’ में श्रद्धा भी मनु को भाव-प्रसार का संदेश देती है— “ओरो को हंसते देखो मनु, हंसो और सुख पाओ अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।” मनु को यह सब बकवास लगता है। वह श्रद्धा को सोती हुई छोड़कर अपनी सुख-सुविधा की खोज में निकल पड़ते हैं। इस देश के महापुरुषों में तब से रिवाज बन गया, पत्नी से नज़र बचाकर निकल जाने में अपनी सुख-सुविधा की खोज में। फिर वे राजकुमार सिद्धार्थ हों या आज के नायक-महानायक! ‘कामायनी’ में मनु श्रद्धा

को छोड़कर निकल जाते हैं, क्योंकि वह मनु को पशु-हत्या से रोकती है। वह तर्क देती है कि पशु प्रतिरोध नहीं करते तो क्या उन्हें जीने का हक नहीं है इस धरती पर? यह मनुष्य ही है, जो अपनी भावना-संवेदना

का विस्तार कर प्रकृति और प्राणि-मात्र की रक्षा कर सकता है। यही मनुष्यता का प्रसार है। ‘कामायनी’ में मानवता की गहन प्रतिष्ठा है। यहां भोगवाद बनाम मानवतावाद पर चिंतन-मनन प्रस्तुत किया गया है। मनु के माध्यम से प्रसाद संदेश देते हैं कि भोग, विलास, वासना का कहीं अंत नहीं होता। वे श्रद्धा के माध्यम से रास्ता बताते हैं कि कैसे “विजयिनी मानवता हो जाए।” जीवन की पूर्णता की खोज का रास्ता भी।

छायावाद में व्यक्ति और मनुष्य, दोनों विस्तृत हुआ है, खुला है। कवि अभिव्यक्त हुआ है खुलकर। यह देश की आज़ादी से पहले का समय है। कवि साहस और उत्साह से युक्त था। आज़ादी मिलते ही यह ढांचा चरमरा गया। दमघोंटू वातावरण में अभिव्यक्ति घुटने लगा। क्या बात है कि मुक्तिबोध प्रसाद से गहरे प्रभावित होते हुए भी ‘अभिव्यक्ति के संकट’ की बात उठाते

हैं? सभ्यता के विकास के साथ-साथ अभिव्यक्ति का संकट निश्चय ही गहराता है। मुक्तिबोध कहते हैं—

“अब अभिव्यक्ति के संकट उठाने ही होंगे / तोड़ने ही होंगे
मठ और गढ़ सब”

अभिव्यक्ति की सचेतनता और टूटने-तोड़ने की अवधारणा पहले-पहल छायावाद देता है। छायावादी कवि तोड़ते हैं— रूढ़ियों और परंपराओं को। ‘सरोज स्मृति’ में निराला ने लिखा कि उन्होंने तोड़ा-जन्म-कुंडली में लिखित विधि-विधान को। उनकी पत्थर तोड़ने वाली स्त्री भी तोड़ती है, ‘लेकर गुरु हथौड़ा हाथ’। छायावादी कविता में निर्माण के साथ-साथ तोड़ने की बात भी है। तोड़ना आधुनिक बोध है, जिससे छायावादी कविता में रूप मिला। बाद में चलकर तोड़ना अनिवार्य हो गया, नवनिर्माण के लिए। रघुवीर सहाय की पंक्तियां हैं—

“टूट मेरे मन एक बार सही-सही टूट / झूठ-मूठ मत रूठ।”

टूटेगा, तभी कुछ नया बनेगा। समाज में भी और कविता में भी। इसलिए वे यह भी कहते हैं— “अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ

और आप कहते हैं कि कविता की है / क्या मुझे दूसरों की
तोड़ने की फुरसत है?”

छायावादी कविता में ऐसा बहुत-कुछ है, जो परवर्ती कविता की दिशा तय करता है। समाज-चेतना का विस्तार हुआ प्रगतिशील काव्य में, तो वैयक्तिक चेतना का विस्तार हुआ प्रयोगवादी कविता में। छायावाद में कविता के बहुत-से बीज छिपे हैं, जिनमें से कुछ को पारवर्ती कविता में विकास मिला है, कुछ अभी भी-विकसित होना बाकी है। वर्तमान समकालीन दौर में भोगवाद और मानवतावाद की बिखरी प्रवृत्ति की आधारभूमि छायावादी कविता में है। आज के भोगवादी और भूमंडलीकरण के समय में छायावाद के मानवतावाद को याद करना और विश्वमानवता पर विचार करना बिलकुल प्रासंगिक है। □



सुमित्रानंदन पंत

कवियों की दृष्टि में छायावाद

जयशंकर प्रसाद



● कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुंदरी के बाह्य-वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिंदी में उसे 'छायावाद' नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परंपरा से, जिसमें बाह्य-वर्णन की प्रधानता थी, इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नए ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यंतर भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यंतर भावों के व्यवहार से प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया पद-विन्यास आवश्यक था। हिंदी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्मृणीय आभ्यंतर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी।

● छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर-स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

● हां, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है। इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धांत भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलंबन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है किंतु प्रकृति से संबंध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता। ('काव्य और कला तथा अन्य निबंध', पृ. 121, 126, 125)

सुमित्रानंदन पंत



● छायावाद भाव-बोध की दृष्टि से जहाँ विगत वस्तु-बोध की भूमिका को छोड़कर एक ओर नवीन चैतन्य के शिखरों की ओर बढ़ा, वहाँ कला-बोध की दृष्टि से वह काव्यशास्त्रीय जड़, अलंकार युग की सौंदर्य-धारणा से अपने को मुक्त कर, सीधा प्रकृति के मुक्त-पंख-प्रसारों में विचरण कर, नए सौंदर्य उपादानों की खोज में निकल गया।

● छायावाद में नए मूल्य ने अपनी सबसे अधिक सशक्त अभिव्यक्ति सौंदर्य-बोध में पाई, इसलिए सौंदर्य-बोध उस युग के काव्य की सबसे

मौलिक तथा प्रमुख देन रही।

● अपनी अर्धखिली कलियों के देहपात्र में छायावाद एक नवीन प्रेम तथा सौंदर्य की ज्वाला को लेकर आया जिसके मर्म मधुर स्पर्श से हृदय की शिराएँ शीतल वेदना की आकुल शांति में सुलगने लगीं। ('छायावाद: पुनर्मूल्यांकन', पृ. 100 एवं 106)

● छायावादी छंदों में आत्मान्वेषण की शांत अंतःस्वर संगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में कोरा लालित्य बनकर रह जाती है। ('गद्यपथ', पृ. 157)

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला



● मैं अपनी तरफ से इतना ही कहूंगा कि छायावाद की कविताएँ भाषा-साहित्य के विकास के विचार से अधिक विकसित रूप हैं। जहाँ-जहाँ उन कविताओं में खूबी आ गई है वहाँ-वहाँ बहुत अच्छी तरह प्रमाण मिल जाता है। जिन स्थानों में धुंधलापन है, भावों का अच्छा प्रकाशन नहीं हुआ, चित्र चमकते हुए नहीं नज़र आते, वहाँ सामयिक दुर्बलता है, जिससे आगे बढ़ने की साहित्य तथा साहित्यिकों को जरूरत है।

● रवीन्द्र की अकेली शक्ति बीस कवियों का जीवन तथा इंद्रजाल लेकर साहित्य के हृदय-केंद्र से निकली और फैली। हिंदी में छायावादी कहलाने वाले कवियों से इसका श्रीगणेश हुआ।

● भावों की मुक्ति छंद की भी मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा, भाव और छंद तीनों स्वतंत्र हैं। ('प्रबंध पद्म', पृ. 14 एवं 166)

महादेवी वर्मा



● छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्गीथ है। ('महादेवी का विवेचनात्मक गद्य', पृ. 94)

● मनुष्य का जीवन चक्रवत् घूमता रहता है। स्वच्छंद घूमते-घूमते थककर वह अपने लिए सहस्त्र बंधनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बंधनों से ऊब कर उनको तोड़ने में अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है।.....छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है। ('यामा', अपनी बात, पृ. 11-12)

● छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। अतः स्थूल पृष्ठ 37 पर जारी

स्त्री-सौंदर्य की पराकाष्ठा

अवधेश अमन



संपर्क : 1सी, आकृति प्रांजल
अपार्टमेंट लेन-15, आर्य समाज
मंदिर पथ, पोस्ट-दानापुर, बेली रोड,
पटना-801503 (बिहार)
मो. 9162589018

कलाकृतियों में स्त्री-सौंदर्य को देखने का एक अविस्मरणीय अनुभव होता है। हम धरती, आकाश और भूगर्भ में भी सौंदर्य देखते हैं। मगर इसी धरती पर कलाकारों की परिकल्पना में यथार्थ सौंदर्य से भी अधिक सौंदर्य की पराकाष्ठा होती है, जो हमें कुछ नवीनतम अनुभूतियाँ देती हैं। दुनियाभर में कलाकृतियों को देखने के परम सुख यथार्थ अनुभव होता है; मगर जो अप्रतिम है, विलक्षण है; ऐसी तीन कलाकृतियों की यहां विशेष पड़ताल गई है।

पहली कलाकृति 'यक्षिणी' जो संप्रति पटना में बिहार संग्रहालय में प्रदर्शित है। पूर्व तक यह कृति पटना संग्रहालय की निधि थी। संप्रति इस महान कलाकृति का प्रदर्शन बिहार संग्रहालय की एक सुंदर दीर्घा में किया गया है। इस मौर्यकालीन मूर्ति-शिल्प को चारों ओर से देखने और देखते रहने का सुख दुर्लभ है। चूँकि इसमें स्त्री-सौंदर्य की पराकाष्ठा है। इस विश्वविख्यात प्रतिमा की कुल ऊँचाई 6 फीट 9 इंच है। सर्वेक्षण एवं अध्ययन के अनुसार यह प्रतिमा चुनार, उत्तर प्रदेश से लाए गए बलुआ पत्थर से प्राचीन पाटलिपुत्र में निर्मित की गई थी। मगर संभवतः किसी काल-प्रकोप के कारण यह वर्षों पटना के दीदारगंज में गंगा के किनारे धोबी घाट में उल्टी अवस्था में कीचड़ में दबी हुई थी। लोग इसके पृष्ठ भाग को देखते थे, मगर गंभीरता से नहीं लेते थे। शायद किसी बड़े पत्थर का एक टुकड़ा समझते थे। आखिर एक दिन 18

अक्टूबर 1917 को यह गंगा किनारे के कीचड़ से निकाली गई और इसके किसी देवी रूप को देखकर हिंदुओं के द्वारा दीदारगंज में लाकर रखी गई। कुछ ही दिनों बाद इसका अधिग्रहण पटना के तत्कालीन आयुक्त ई. एच.एस. वाल्श ने 20 नवंबर 1917 को किया और यह 17 दिसंबर 1917 ई. को पटना संग्रहालय लाकर प्रदर्शित की गई। प्रतिमा जब कीचड़ से निकाली

गई थी तब इसकी नाक पहले से ही थोड़ी टूटी हुई थी तथा इसका बायाँ हाथ भी टूटा हुआ था। मगर इस बलुआही पत्थर वाली प्रतिमा में अद्भुत चमक बरकुरार थी। एक स्त्री के अंग-प्रत्यंगों का इतना सुंदर अंकन, इसके अर्द्धवस्त्र, इसके अलंकरण और इसकी केश-सज्जा तथा इसके दाहिने हाथ का चंवर एक बार देखकर अकल्पनीय लगता है। इसके मुखमंडल की आभा और इसकी स्मित मुस्कान हमें आह्लादित किए बगैर नहीं रुकती। इसके पाँव से शीर्ष तक का सौंदर्य अत्यंत परिमार्जित है। इस शिल्प में पतली कमर, ऊपर से नीचे क्रमशः पतले होते पैर, इसकी दाहिनी बांह का सौष्ठव और कंधे पर चंवर का भार तथा वक्ष का सुकोमल शिल्प-विन्यास हमें निरंतर देखते रहने के लिए प्रेरित करता है। इस स्त्री के थोड़ा उभरे हुए गाल और ओठों के सौंदर्य के साथ आँखों से भी झाँकती एक हल्की स्मित मुस्कान हमें इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए प्रेरित करती है। इसकी गर्दन, कमर, उदर और पीछे के मेरुबंध के तथा केश-विन्यास के सौंदर्य का अवलोकन भी हमें प्रसन्नचित्त करता है। इसे देखकर लगता है कि शिल्पकार ने एक आत्मीय भाव से इसकी रचना की होगी। निश्चय ही, वह भी कोई प्रेमी-हृदय होगा। शिल्पकार के तक्षण के बाद इस शिल्प का शीशे की तरह चमकना भी आश्चर्यजनक है। समवेत रूप से इस महान कलाकृति को देखना एक विलक्षण और अद्वितीय अनुभव है।

हमारे प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में सैकड़ों देवी-देवताओं की परिकल्पना है, इसमें यक्ष की परिकल्पना इस रूप में है कि वो कुबेर के गणों और उनकी निधियों की रक्षा करने वाली एक प्रकार की देवयोनि है। इस रूप में दक्षिणी यक्ष की पत्नी हुई। बहरहाल पटना में यक्षिणी तो अकेली है, मगर साँची के तोरण में यक्ष और यक्षिणी दोनों विद्यमान हैं। यद्यपि



मौर्यकालीन कलाकृति 'यक्षिणी' : अग्रभाग



मौर्यकालीन कलाकृति 'यक्षिणी' : चांवर सहित दाहिना भाग



‘बनी ठनी’ किशनगढ़ शैली : निहालचंद

पटना की यक्षिणी की रचना का काल तीसरी शती ईसा पूर्व का काल मौर्य काल निर्धारित किया गया है, मगर इस संदर्भ में इतिहासकारों और पुरातत्त्वज्ञान में मतैक्य नहीं है। हमारी ऐतिहासिक और सामाजिक परंपरा में चंवर डूलाना सेवक या सेविकाओं का कार्य रहा है। राजाओं या सामंतों के यहां सुंदर सेविकाएं उनकी प्रेयसी भी रही हैं। इस कारण यक्ष

और यक्षिणी की प्रतिमा का एकल निर्धारण भी हुआ होगा।

पटना में कुम्हार के पास के उत्खनन में मौर्य और अन्य शासकों की इमारतों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। इनमें 80 स्तंभों वाला सम्राट अशोक का सभा भवन तथा चरक के आरोग्य भवन के खंडहर भी हैं। पाटलिपुत्र का इतिहास शासकों से भरा पड़ा है। 305 ई.पू. में चंद्रगुप्त मौर्य यहां का शासक था। इसने 299 ई.पू. तक यहां राज किया। बाद में बिंदुसार 299 ई.पू.-273 ई.पू.-अशोक 269 ई.पू.-232 ई.पू. तक पाटलिपुत्र का शासक रहा। 232 ई.पू. में अशोक का पौत्र राजा बना। इसके बाद पुष्यमित्र शुंग ने मौर्यवंश के शासक की हत्या करके यहां शुंग वंश की स्थापना की। इसने भी पाटलिपुत्र को ही अपनी राजधानी बनाया। इस तरह सत्ता के लिए शासकों की मार-काट यहां जारी रही। शासन और सत्ता की इन परिस्थितियों में अशोक ने यहां कुल 37 वर्षों तक शासन किया। इसलिए ऐसा लगता है कि अस्सी स्तंभों वाले अशोक के सभा-भवन के मुख्य द्वार पर संभवतः यह यक्षिणी स्थापित रही होगी। यह भी संभव है कि सम्राट अशोक की पत्नी के कक्ष के बाहर द्वार पर यह यक्षिणी खड़ी हो। चूंकि अशोक के भवन के भव्य स्तंभ भी बलुआ पत्थर से ही बने हैं, साथ ही कुछ अन्य पुरावशेष भी मेल खाते हैं। बहरहाल इतिहास की इन उलझनों से अलग हम यक्षिणी के सौंदर्य की पराकाष्ठा देखते हैं जो ऐतिहासिक भी है और अपरिचीम भी।

एक दौर की भारतीय लघु चित्रकला में भी हम अकसर स्त्री-सौंदर्य की पराकाष्ठा देखते हैं। दो सौ वर्षों से अधिक समय से राजस्थानी चित्रकला परंपरा में बनी कलाकृति ‘बनी ठनी’ एक अप्रतिम कलाकृति है, जिसमें एक स्त्री के मुखमंडल के सौंदर्य और उसकी आभा का लालित्य हृदयस्पर्शी है। यह कृति संप्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में प्रदर्शित है। राजस्थानी चित्रकला की मारवाड़ शैली की किशनगढ़ उप शैली का चित्र है यह राजस्थानी और पहाड़ी शैली के चित्रकारों पर सोलहवीं सदी में केशवदास रचित काव्य ‘रसिकप्रिया’ और बारहवीं सदी में रचित जयदेव के ‘गीत गोविंद’ काव्य का प्रभाव है, जिसमें राधा-कृष्ण के प्रेम की अपार लीला और सौंदर्य का प्रतिबिंब है। दरअसल कुछ ऐसा ही प्रभाव किशनगढ़ के राजा सावंत सिंह (1748-1764 ई.) ने ‘नागरीदास’ के नाम से लिखे अपने काव्य में भी रचने का प्रयास

किया। ये ब्रजभक्ति साहित्य में सबसे अधिक ख्याति अर्जित करने वाले कवि थे। सावंत सिंह उर्फ नागरीदास स्वयं एक चित्रकार भी थे साथ ही उन्होंने अपने दरबार में कुछ चित्रों को भी आश्रय दे रखा था।

दरअसल ‘बनी ठनी’ किशनगढ़ रियासत के राजा सावंत सिंह की दासी व प्रेमिका थी, जिसका वास्तविक नाम विष्णुप्रिया था। विष्णुप्रिया स्वयं एक अतिसुंदर स्त्री थी और ‘रसिक बिहारी’ नाम से कविता भी लिखती थी। साथ ही वह एक अच्छी गायिका भी थी। इतनी सुंदर और प्रतिभासंपन्न स्त्री से राजा का अंतरंग प्रेम स्वाभाविक था। एक दिन राजा ने उसे रानियों वाली पोशाक और गहने पहनाकर अपने सामने बैठाया और उसके अद्भुत सौंदर्य का अंकन अपने चित्र में किया। कुछ ही समय में राजा ने अपने राज चित्रकार निहालचंद को वह चित्र दिखलाया। निहालचंद ने उसमें कुछ संशोधन करने का परामर्श राजा को दिया। अपने संशोधन के बाद भी राजा ने उस चित्र को गोपनीय रखा। पुनः राज चित्रकार निहालचंद ने राजा की बेचैनी देखकर विष्णुप्रिया की एक अतिसुंदर शबूह बनाई। इस चित्र में भी राजा के परामर्श पर इसके अलंकरण में कुछ संशोधन के बाद इसे सार्वजनिक किया गया। इसके बाद तो प्रेरित होकर निहालचंद ने ‘बनी ठनी’ के कई चित्र बनाए जो अपने समय में ही बहुत प्रसिद्ध हुए तथा किशनगढ़ शैली ‘बनी ठनी’ के नाम से ही ख्यात हो गई। इस प्रकार ‘बनी ठनी’ की रचना में राजा सावंत सिंह और दासी विष्णुप्रिया के अगाध प्रेम का संस्पर्श है, जो राधा-कृष्ण के प्रेम की तरह भी है।

‘बनी ठनी’ कृति की रचना 1760 ई. में हुई है। इसे देखकर इसका सौंदर्य कुछ ही क्षणों में आंखों में समाहित होता है और हमारा हृदय आह्लादित तथा मानस पर एक क्षितिज होता है। अपरिमित सौंदर्य के चित्रकार निहालचंद ने ‘बनी ठनी’ का नेत्र खंजन नयन की तरह चित्रित किया है, जो कमल की पंखुड़ी की तरह पीछे नुकीला हुआ है। लंबी और नुकीली नाक, धनुषाकार भौंहें, पतले लाल अधर, शृंगार रस से ओत-प्रोत कोमलागियों के लचकदार छरहरे बदन रूप-यौवन से परिपूर्ण हैं। कृति में कलाकार ने अपनी बारीक सेवाओं के प्रवाह के कौशल का परिचय दिया है। बारीक और कोमल केश-विन्यास भी रूप-सौंदर्य को निखारता है। कृति की पृष्ठभूमि किसी कल्पनातीत चांदनी रात-सी प्रतीत होती है, जिसमें नीले शांत रंग का समावेश है। इसके साथ ही एक ओजस्विता भी है कृति में, जो इसे सौंदर्य की पराकाष्ठा तक पहुंचाती है।

पेरिस के लुव्र संग्रहालय में संग्रहित कलाकृति ‘मोनालिसा’ में भी हम सौंदर्य की पराकाष्ठा देखते हैं। इस कलाकृति पर तो विगत पांच सौ वर्षों में अनेक विमर्श हुए हैं। अधिक व्याख्या मोनालिसा के चेहरे पर मंद या स्थित मुस्कान की हुई है। कृति में चेहरे के धूसरित गुलाबी



‘मोनालिसा’ : लियोनार्दो द विंसी



एक गुजराती युवती : अठारहवीं सदी

के सौंदर्य को उद्भाषित करती है। मोनालिशा की आंखों में जैसे एक गहरा सागर है। नासिका, ओठ, तुड़ड़ी तथा गर्दन और उसके नीचे वक्ष का हल्का उभार स्त्री-सौंदर्य की कुछ नई परिभाषा गढ़ता है।

'मोनालिशा' के चित्रकार इटली के तस्कानी प्रदेश के विंसी नामक स्थान के लियोनार्दो द विंसी बहुमुखी प्रतिभा के संपन्न व्यक्ति थे। 15 अप्रैल 1452 ई. को इनका जन्म हुआ था। इन्होंने फ्लोरेंस, रोम और मिलान में कला की श्रेष्ठतम रचना की है परंतु यहां हम इनके 30"X20" के कैनवास पर चित्रित 'मोनालिशा' शबीह पर दृष्टि डालें, जिसकी रचना फ्लोरेंस में लियोनार्दो ने 1503 से 1506 ई. के बीच की थी। फ्लोरेंस में ही जानोबी देल गियोकोंडा की नेपल्स की रहने वाली पत्नी ला गियोकोंडा की यह शबीह लियोनार्दो ने उसके पति के अनुरोध पर ही निर्मित की थी। ला गियोकोंडा से 20 वर्ष अधिक थी उसके पति जानोबी देल की उम्र। लियोनार्दो जब फ्लोरेंस में अपनी चित्रशाला में यह पोर्ट्रेट बना रहे होते थे तब वहां संगीतज्ञ विथोविन पर संगीत की धुन छेड़ रहे होते थे। मुमकिन है इस संगीत-प्रभाव से ला गियोकोंडा का सौंदर्य और निखरा हो। यह भी मुमकिन है कि लियोनार्दो भी उसके लावण्य से प्रभावित हुआ हो और आगे भी कोई परिणति हुई हो। एक और

रंग का आकर्षण हमें देखने के लिए प्रेरित करता है। मोनालिशा के खुले केश, गाउन और कंधे पर दुशाले तथा पृष्ठभूमि में एक नदी और घने पेड़ों का परिदृश्य भी हमें प्रभावित करता है। सौंदर्य तो उसके दोनों हथेलियों की उंगलियों में भी है। गहरे मिश्रित रंगों से चित्रित इस शबीह में प्रकाश की न्यूनतम और मध्यम किरणों का सुंदर सामंजस्य है, जिसमें वस्त्र की सिलवटें भी व्यक्तित्व

परिणति यह हुई कि लियोनार्दो ने ला गियोकोंडा का नाम 'मोनालिशा' रख दिया। अपने अप्रतिम स्नेह और मोह-पाश के कारण लियोनार्दो ने इस कृति को अपने पास ही रखा। ऐसा लगता है कि लियोनार्दो की कोई अदृश्य अमर प्रेम-कथा रही होगी 'मोनालिशा' की रचना के चार वर्षों में, इस कारण पहले तो इस कृति को वह अपने साथ फ्लोरेंस से रोम लेकर आया, फिर मिलान और अंत में फ्रांस। फ्रांस से किंग फ्रांसिस प्रथम ने जब इस कृति को देखा तब उसने प्रभावित होकर इसे खरीदने की इच्छा जाहिर की परंतु बहुत अंतर्द्वंद्व के बाद लियोनार्दो ने कुछ माह के बाद ही 'मोनालिशा' को चार हजार स्वर्ण क्राउन में किंग फ्रांसिस को सौंपा। इसके कुछ ही समय के बाद मई 1519 ई. में लियोनार्दो द विंसी का निधन हो गया परंतु अब तक 'मोनालिशा' का सौंदर्य एक इतिहास बन चुका है। दुनियाभर के लोगों की आंखों में समा चुकी है यह कलाकृति। इसलिए कि इसमें स्त्री-सौंदर्य की एक पराकाष्ठा है। दुनिया में ऐसी कुछ और शबीह है, मगर वह 'मोनालिशा' नहीं है। चित्रकार रूबेन्स की सत्रहवीं शताब्दी की हेलेन काउरमेंट की शबीह में तो रूप और लावण्य की एक चकाचौंध भी है।



कृष्ण और गोपियां : पहाड़ी शैली

भारतीय लघु चित्रकला में भी राजस्थानी, पहाड़ी और कुछ गुजराती चित्रकारों ने भी स्त्रियों के सौंदर्य चित्रित किए हैं। भारतीय मूर्तिकला में भी शिल्पियों ने अपने स्त्री तक्षण-शिल्प में सौंदर्य के सृजन का उत्स रचा है, मगर 'यक्षिणी' तो दुनियाभर में एक अकेली कृति है, जो त्रिभंगी है और जिसके आश्चर्यजनक सौंदर्य को हम चारों ओर से देखते हैं जिसमें स्त्री-सौंदर्य की सर्वोच्च पराकाष्ठा है। □

छायावाद के बहाने...

पृष्ठ 16 से आगे

है। यह कदापि और किंचित भी भावात्मक-मात्र नहीं है, यह एक यथार्थ रहस्यवाद है। निर्मला जैन जब इसे अलौकिक-रहस्यवाद कहती हैं तो वे शुक्लजी के पैदा किए दिग्भ्रम से बाहर आने की सबसे बड़ी छटपटाहट को व्यक्त करती हैं। मगर यह कोशिश केवल अलौकिक को उलटा देने की, उसके दुष्पन्न से बाहर आने के लिए उसी के दूसरे विरोधी सिरे को जोर से पकड़ने की कोशिश है। बात लौकिक-अलौकिक की है ही नहीं। जाने क्यों इस पर इतना श्रम व समय अब तक नष्ट किया जाता रहा है? रहस्यवाद जीवन की प्रामाणिक अनुभूतियों के जगत का एक हिस्सा है। वह यथार्थ का एक विशिष्ट 'कूट' है, जिसमें बाह्य जगत उलटा प्रतिबिंबित होता है। उसे डीकोड कर, सीधा करना उसके

यथार्थ सारतत्व को उपलब्ध करना है। इसे तब तक खारिज करना भी वाजिब नहीं (जैसा कि छद्म मार्क्सवाद अक्सर अपने जोश में करता है) जब तक कि मानव-मस्तिष्क की समस्त गतिविधियों को हम पूरी वैज्ञानिक-विश्वसनीयता के साथ पकड़-समझ नहीं पाते। 'रहस्य' यथार्थ विरोधी वस्तु नहीं है, वह यथार्थ का ही एक पक्ष है— इसे आज हम बखूबी समझ सकते हैं।

छायावाद की यथार्थ चेतना व सारतत्व को उसकी अपनी जुबानी समझना होगा।

यानी सांस्कृतिक औपनिवेशीकरण की प्रक्रियाओं से उबरने का समय आ गया है— यह निश्चित है। □



संपर्क : सी-55, कालानी बाग, देवास
455001 (म.प्र.), मो. 9425919221

अनचाहे मौसम में

एक दिन और बूढ़ा हो जाऊंगा
उम्र से परे और कालातीत
फिर सोचूंगा जीवन के बारे में
तुम्हारे और उस सबके बारे में
जो बीतता गया मेरे साथ
और घटता गया कदम-कदम पर

बूढ़ा होने पर स्मृति दोष होना
बहुत स्वाभाविक होता है बहुधा
डरता हूं कहीं इसकी गिरफ्त में
भूल ना जाऊं कुछ जैसे तुम्हें
या खुद को ही कुछ ऐसे
कि याद न कर पाऊं

बूढ़ा होने पर उपेक्षित भी हो जाते हैं हम
एक ओर कोने में जीने को अभिशप्त
मरने का इंतज़ार करते कौतुक से होते हैं
एकदम फालतू से संसार में हम तुम
हर पल टुकुर-टुकुर ताकते हैं आसमान
मानो इंतज़ार हो किसी चौराहे की पगडंडी पर
अपने देस जाने वाले बटोही का जो ले जाए
बैलगाड़ी में खौंचकर, उतार दे खपरैल के पास

बहुत जल्दी और बूढ़ा,
और बूढ़ा होना चाहता हूं
बस अब इस काया के परे जाना चाहता हूं
ऐसे कि बिखर जाती ओस की बूंदें
सूरज के बाद
छुप जाते हैं जुगनू और चांदनी उजास में

ये सच्चाई स्वीकार करने के बाद ही जाना है
जीवन का फलसफा हम चिरस्थायी नहीं
एक दुष्चक्र के पहिये की भांति
फंसे हैं माया में
बावजूद इसके कि हमें मालूम है अंतिम सत्य

एक कोयल इस मौसम में अचानक कूकती है
खिलता है ब्रह्मकमल, कैक्टस के फूल उगते हैं
जीवन मुशिकलों में और बूढ़ा होता है तलखी से
एक सारस सूखी झील से गुज़रता है फुर्ती से !

बहुरूपिए

वे कुछ भी पहन सकते हैं
कहीं भी जा सकते हैं
मातम, हंसी, खुशी, दुख और स्वांग
उनके रूप में शामिल है

कुछ भी किसी भी भाषा में बोलने में पारंगत
किसी भी संस्कृति को अपना यशगान बताना
संसार के हर वंश से खुद को जोड़ना एक
कला है
इस अप्रतिम कला के वे हरकारे ही नहीं
संरक्षक हैं

मांगना और झूठ बोलना उनके चरित्र और
पालन-पोषण में शामिल ही नहीं,
वरन संस्कारों में है
वे सदियों से यही करते आए हैं
और इसी पर पलते आए हैं इसी कारीगरी पर

हैरान भी नहीं होते और शर्म भी नहीं है उन्हें
संसार में अस्तित्व बनाए रखने और गलाकाट
स्पर्धा में पुरोधा बने बिना कुछ हासिल नहीं
कौशल और दक्षता से परिपूर्ण हैं वे

डर तब लगता है जब वे सरकारी डरावने वेश
में आते हैं
सब कुछ लूट ले जाते हैं भावनाओं के बदले
वे कहीं भी जा सकते हैं क्योंकि
यह धरा छोटी है
वामनावतार की तरह डग भरते हैं मुस्कुराते हुए

कहते हैं अमृत-मंथन के समय भी रूप धरकर
अमृत अपने ही लोगों को दिया था बहुरूपिए ने
दुनिया के इतिहास में हर जगह मौजूद
हैं शिद्वत से
अब खुलता जा रहा तो संसार में इनका
पर्दाफाश जरूरी है

उन्हें पराजित करना आसान है
बस एक बार उनके लिए जिल्द में जड़े
प्रमाणपत्र देख ले कोई और साहस से पूछ ले
वे मोहल्ला बदल देंगे याकि घर लेंगे
स्वांग नया।

बाज़ार को ठेंगा दिखाती एक स्त्री

यह ठीक सूरज ढलने का वक्त है
और वह टेला धकाते हुए लौट रही है
माथे पर शिकन के साथ पसीने की बूंदें लिए
बची है कुछ सब्जियां उसके टेले पर रखे
टोपलों में

उसे घर के बच्चों से ज्यादा चिंता है कि करेले
सुख जाएंगे
गोभी में हो सकता है कीड़ा पड़ जाए
सुबह तक
पालक और मेथी तो समझो गाय को ही देना है
कहू अलबत्ता परसों तक भी नहीं बिका तो
चलेगा
प्याज़, लहसुन और अदरक भी कल और चलेंगे

सुबह मंडी जाकर चुकाना है सुजानमल को
आज का हिसाब
और फिर ढूँढना है नया आदतिया कि एकाध
हफ्ते चला ले उधारी
पर आजकल सब रुपये नगद ही मांगते हैं मंडी में
टेला धकाए यंत्रवत-सी चली जा रही है वह
आवाज़ भी दे रही है "ताजी सब्जी ले लो"
कॉलोनी में
अलसाई-सी थकी-मांदी काम से लौटी स्त्रियां
उसकी ग्राहक हैं
आते-जाते रुक जाती है कोई सायकिल और
मोल-भाव के साथ
खरीदी जाती है दिनभर की बची सब्जी इस
तरह
जाते हुए भी सौ-पचास कमा लेती है और
चहक उठती है

बाज़ार से गुज़रते हुए कि गुड़ और तिल्ली की
खुशबू से महकती
गजक टेले से तुलवा लेती है बच्चों के लिए
और पति के लिए
दिनभर से थका होगा वो भी रेलवे के यार्ड में
सीमेंट ढोते हुए
घर के करीब आने पर चिंताएं खत्म होती हैं
और घुसते ही लग जाती है
रसोई में कि बच्चे भूखे ना सोयें और पति भी
तगड़ी खुराक ले ले

वह भूलती है करेले और गोभी, पालक फेंक
देती है
बच्चों से बात करते हुए वह हंसती है तब वह
कोई सब्जीवाली नहीं है
इस समय इस घर के छत से लटकी ढिबरी के
उजियारे में वह
एक मां है जो बच्चों और पति को दुलारकर
अपना घर संवार रही है। □

समालोचकों की दृष्टि में छायावाद

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' मई 1927 के अंक में 'सुकवि किंकर' नाम से 'आज-कल के हिंदी-कवि और कविता' नामक निबंध लिखा है। यद्यपि यह निबंध वैचारिक धरातल पर नहीं लिखा गया है फिर भी इसका ऐतिहासिक महत्व है। सुकवि किंकर के अनुसार—



● छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया, यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद-कविता कहना चाहिए। ('सरस्वती', भाग-28 सं. 5, मई 1927)

● छायावादी कविता 'अस्पष्ट' गुप्त, गूढ़, छायामयी है जिसे 'शुष्क विचारों का विजृम्भण' कह कर पुकारा जाता है जो नीरस और अमानवीय है। ('संचयन', पृ. 106)

द्विवेदीजी इतिवृत्तात्मक सिद्धांत के कारण छायावादी भावुकता को स्वीकार नहीं कर पाए। वे इसे 'नवयुवकों के दिमाग का फितूर मात्र' मानते थे अथवा 'अन्योक्ति-पद्धति मात्र'।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए— एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहां उसका संबंध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहां कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है।



छायावाद शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।

● पुराने ईसाई संतों के छायाभास (फैंटासमाटा) तथा योरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (सिम्बॉलिज़्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएं 'छायावाद' कही जाने लगी थीं।

● हिंदी में 'छायावाद' शब्द का जो व्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के संबंध में भी ग्रहण हुआ वह उसी प्रतीक शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ—

प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है। ('हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ. 668, 650 एवं 669)

● एक चौथी बात, जिसकी चर्चा छायावाद की कविता के साथ हुआ करती है वह छंद-बंधन का त्याग और लय (रिदम) का आलंबन है। पर यह एक बिल्कुल दूसरी हवा है जो अमरीका की ओर से आई है। ('चिंतामणि', भाग-2, पृ. 157)

● हृदय की सारी काम वासनाएं, इंद्रिय सुखों के सुख विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बंधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्यवाद से संबंध न रखने वाली कविताएं भी छायावाद ही कही जाने लगीं। अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही सीमित न रहकर काव्य-शैली के संबंध में भी प्रतीकवाद (सिम्बॉलिज़्म) के अर्थ में होने लगा।

● अन्योक्ति-पद्धति का आलंबन भी छायावाद का एक विशेष लक्षण हुआ। ('हिंदी साहित्य का इतिहास', : पृ. 669)

मुकुटधर पांडेय के बाद आचार्य शुक्ल की छायावाद संबंधी व्याख्या अधिक परिष्कृत, प्रौढ़ और संयत है। यह अलग बात है कि वे छायावाद को पर्याप्त महत्व न दे सके।

नंददुलारे वाजपेयी

● छायावाद को हम पं. रामचंद्र शुक्ल के कथानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन, सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक अस्तित्व और गहराई है। ('जयशंकर प्रसाद', पृ. 17-18)



● मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है। ('हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', सं. 1963, पृ. 163)

● आज जिसे हम छायावाद की कविता कहते हैं वह क्या कोई एक वस्तु है? ऐसा तो नहीं है। थोड़ी-सी भावात्मकता, थोड़ी-सी सांकेतिकता और थोड़ा-सा रहस्य, थोड़ी दुरूहता, थोड़ी-सी कोमलकांत पदावली और थोड़ा-सा अतीतानुराग, थोड़ा-सा प्रकृति-प्रेम, थोड़ी-सी उच्छ्वंखलता—इस प्रकार थोड़ी-थोड़ी अनेक वस्तुएं उसमें सम्मिलित हैं। ('हिंदी के दो प्रमुख वाद', सं. प्रेमनारायण टंडन, पृ. 52)

● हमारी नई कविता 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' कहलाती है। ये वाद, आध्यात्मिक घेरे के अंतर्गत हैं। इसलिए प्रायः यह समझ लिया जाता है कि इस कविता का हमारे सामयिक जीवन से कुछ संबंध ही नहीं है किंतु कथावस्तु की जांच करने पर स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काव्य की शैली छायात्मक या रहस्यात्मक है किंतु इसमें सामयिक प्रेरणाएं, विचारणाएं और प्रगतियां भी कुछ कम मात्रा में नहीं।

● छायावादी काव्य में विद्रोह और स्वातंत्र्य का, निष्ठा और सजगता का भी स्वर है। ('आधुनिक साहित्य', पृ. 303 एवं 343)

● 'विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झांकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भांति विश्व के कण-कण में अपने सर्वव्यापक प्राणों की छाया देखता है। ('छायावाद-रहस्यवाद', सं. गंगाप्रसाद पांडेय, पृ. 21)

हजारीप्रसाद द्विवेदी

● 1900-1920 ई. की खड़ी बोली की कविता में विषय-वस्तु की प्रधानता बनी हुई थी परंतु इसके बाद की कविता में कवि के अपने राग-विराग की प्रधानता हो गई। विषय अपने-आप में कैसा है, यह मुख्य बात नहीं थी बल्कि मुख्य बात यह रह गई थी कि विषयी (कवि) के चित्त के राग-विराग से अनुरजित होने के बाद वह कैसा दिखता है। विषय इसमें गौण हो गया, विषयी प्रधान।



● छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिए बिना विचारे ही दे दिया गया था—(क) जिनमें मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी। (ख) जो वक्तव्य विषय को कवि की व्यक्तिगत चिंतना और अनुभूति के रंग में रंग कर अभिव्यक्त करती थीं। (ग) जिनमें मानवीय आचारों, क्रियाओं, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्यों को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी। (घ) जिनमें छंद, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था और (ङ) जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नहीं दिखाई गई थी।

● छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था, यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने के चिह्न स्पष्ट हैं तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था, कवियों की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा-शैली में अपने को अभिव्यक्त किया। ('हिंदी साहित्य', पृ. 455, 461 एवं 462)

● मानवीय दृष्टि से कवि की कल्पना, अनुभूति और चिंतन के भीतर से निकली हुई, वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वतः समुचित अभिव्यक्ति बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के स्वयं निकल पड़ा हुआ भाव-स्रोत ही छायावादी कविता का प्राण है। ('छायावाद', पृ. 31-32)

बाबू गुलाबराय

● प्रकृति की गोचर सीमाओं को पार कर उसमें दृश्यमान इतिवृत्तात्मक



भौतिकता की अपेक्षा एक अलौकिक अगोचर मानवी भावुकता के दर्शन की प्रवृत्ति को 'छायावाद' कहते हैं। ('हिंदी काव्य-विमर्श', पृ. 229)

● इसमें छाया की सी कोमलता और स्वप्नप्रियता रहती है। छायावाद कोरे वस्तुवाद से संतुष्ट नहीं रहता, वह वस्तु में एक आध्यात्मिकता और स्थूल में सूक्ष्म की स्वप्निल आभा देखता है।

● छायावाद वस्तुओं में उनकी कटी-छटी सीमाओं के अतिरिक्त और कुछ देखने की प्रवृत्ति का फल है और वह इन्द्रियगोचर जगत का भाव-जगत के साथ समन्वय करता है। ('हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास', पृ. 325, 323)

● छायावाद ने बुनियाद की अपेक्षा भावुकता को अधिक स्थान दिया है। वह भावुकता कर्म को भी गति देती है। ('काव्य के रूप', पृ. 141)

शांतिप्रिय द्विवेदी

● छायावाद केवल काव्य-कला नहीं है। जहां तक साहित्यिक टेकनीक से उसका संबंध है वहां तक वह कला है। अतएव छायावाद, काव्य की केवल एक अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि इसके ऊपर एक श्रेष्ठ अभिव्यक्ति भी है। 'छाया' शब्द यदि उसकी कला के स्वरूप (अभिव्यक्ति) को सूचित करता है तो 'वाद' उसके अंतः प्रकाश (अभिव्यक्ति) को। ('संचारिणी', पृ. 221-222)



● 'द्विवेदी युग में जिस मैटर ऑफ़ फ़ैक्ट का निर्देश कर चुके हैं, ठीक उसकी दूसरी दिशा में छायावाद है, जो विषय की इतिवृत्तात्मकता को न लेकर केवल उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करता है। इतिवृत्तात्मक कविता का संबंध यदि स्थूल शरीर से है तो छायावाद का सूक्ष्म प्राण से। ('कवि और काव्य', पृ. 150-151)

● छायावाद की कविता तो मुख्यतः अनुभूति की नीरवता ही लेकर चली थी फिर भी उसने संगीत और चित्र को संवेदन की सांकेतिक अभिव्यक्ति के रूप में अपना लिया था। ('सामयिकी', पृ. 218 एवं 239)

डॉ. नगेन्द्र

● 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' ही छायावाद का आधार है। 'स्थूल' शब्द बड़ा है। इसकी परिधि में सभी प्रकार के बाह्य रूप-रंग, रूढ़ियां आदि सन्निहित हैं और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य के बंधनों के प्रति स्वच्छंद कल्पना और टेकनीक का विद्रोह। ('सुमित्रानंदन पंत', नगेन्द्र, पृ. 2)



● छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है; जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवन

के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था और रीतिकाव्य एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।

(‘आस्था के चरण’, पृ. 233)

- छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूति की अन्तःप्रेरणा असंदिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव-पद्धति की, विशिष्टता के ही कारण है। (‘आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ’, पृ. 14-15)

रामविलास शर्मा

- छायावाद हिंदी साहित्य की रोमांटिक धारा है। वह मूलतः रीतिकालीन परंपरा की विरोधी है। वह एक मानववादी धारा है जिसका एक कमजोर पक्ष रहस्यवाद भी है। (‘आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना’, पृ. 196)



- छायावादी कविता में विद्रोह और पलायन, ओज और करुणा संसार की चुनौती और दीनतापूर्ण आत्मनिवेदन—इन विरोधी भावों का कारण पूंजीवादी युग की असंगतियाँ हैं जो स्वाधीनता की भावना को जगाती हैं परंतु उन्हें पूर्ण नहीं कर सकतीं।
- हिंदी की छायावादी कविता की व्याख्या करने के लिए ‘छाया’ से लड़ना आवश्यक नहीं है। ‘छायावादी कविता स्थूल के प्रति विद्रोह है और जो कवि इस शाश्वत सत्य को चरितार्थ नहीं करता, वह कवि नहीं है’—इस तरह की व्याख्याओं का आधार छायावादी कविता नहीं,

आलोक की कल्पना है। इसी प्रकार उसे पलायनवादी, प्रतिक्रियावादी कह कर लांछित करना सरासर अन्याय है। उसमें पराजय और पलायन की भावनाएँ हैं तो विद्रोह विजय, मानव-मात्र के प्रति सहानुभूति के स्वर भी हैं। (‘संस्कृति और साहित्य’, पृ. 42 एवं 44)

इनके अतिरिक्त और अनेक विद्वानों ने भी छायावाद को व्याख्यायित-पारिभाषित किया है। इससे छायावाद के स्वरूप को समझने में काफी सहायता मिली है। यहां कुछ विद्वानों के विचार संक्षिप्त रूप से दिए जा रहे हैं—

वस्तुतः छायावाद साधारण गीतिकाव्य, प्रेमकाव्य या रहस्यवादी काव्य नहीं है; न्यूनाधिक यह सब होते हुए भी उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उसे एक निराली स्थिति दे देती हैं। ये विशेषताएँ हमारी समझ में तीन हैं अर्थात् (क) धूमिलता या अस्पष्टता, (ख) बारीकी गुम्फन की सूक्ष्मता, (ग) काल्पनिकता और कल्पना-वैभव। (‘छायावाद का पतन’, पृ. 11)

- छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से। (‘छायावाद और राष्ट्रवाद’, पृ. 24)

इस प्रकार छायावाद को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा-समझा गया है। यहां छायावादी कवि एवं समीक्षकों की विचारधारा को समग्र रूप में प्रस्तुत करने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि पाठकों के सम्मुख उस विशाल सांस्कृतिक चेतना के विविध पक्षों का उद्घाटन हो सके। एक नवीन काव्यधारा के रूप में और उसकी शैली-शिल्प आदि की दृष्टि से छायावाद की जितनी व्याख्याएँ एवं चर्चाएँ हुई हैं शायद ही किसी अन्य काव्यधारा की हुई हो। यह इसकी प्रभावशीलता और लोकप्रियता का प्रमाण है। □

कवियों की दृष्टि...

पृष्ठ 30 से आगे

को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए संभव न हुआ परंतु उसकी सौंदर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिए क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौंदर्य-सत्ता की प्रतिक्रिया थी।

- स्वयं छायावाद तो करुणा की छाया में सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूप में उसकी उपयोगिता है। (‘महादेवी का विवेचनात्मक गद्य’, पृ. 67 एवं 100)

रामकुमार वर्मा

- परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में, यही छायावाद है।



- छायावाद वास्तव में हृदय की एक अनुभूति है। वह भौतिक संसार के क्रोड में प्रवेश कर अनंत जीवन के तत्त्व ग्रहण करता

है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोड़कर हृदय में जीवन के प्रति एक गहरी संवेदना और आशावाद प्रदान करता है।

- कवि को ज्ञात होता है कि संसार में परिव्याप्त एक महापन और दैवी सत्ता का प्रतिबिंब जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ रहा है और उसी की छाया में जीवन का पोषण हो रहा है।...इस संसार में उस दैवी सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को छायावाद की संज्ञा दी गई।

- छायावाद ने वास्तव में हिंदी कविता को काव्य की उच्चतम संभावनाओं से संपन्न कर दिया है। उच्च कोटि की कल्पना, प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन, सुख-दुख की एक तीव्र संवेदना, सौंदर्य का एक आलोकमय दृष्टिकोण और चित्रात्मकता छायावाद की विभूतियाँ हैं जो खड़ी बोली कविता को प्राप्त हुई। (‘विचार दर्शन’, पृ. 72 एवं 75)

- ‘अनंत के सम्मिलन की आकांक्षा और अंतिम संयोग के पहले कवि को प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का अन्वेषण करना पड़ता है। अतएव प्रकृतिवाद को हम छायावाद की पहली सीढ़ी मान सकते हैं। (‘अंजलि’, अपने विचार, पृ. 17)

प्रतीक-योजना

केदारनाथ सिंह

समकालीन कविता के प्रमुख स्तंभ कवि केदारनाथ सिंह का पिछले दिनों दिल्ली में देहावसान हो गया। कम लोगों को ज्ञात है कि उन्होंने एम.फिल 'कल्पना और छायावाद' पर किया था जो आगे चलकर पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुई। केदारजी को श्रद्धांजलि स्वरूप फिलहाल हम यहाँ 'कल्पना और छायावाद' के एक अध्याय का संपादित अंश प्रस्तुत कर रहे हैं।

‘मानव सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है’— इस वाक्य को सुनकर हमारे सामने कोई मानवमूर्ति नहीं खड़ी होती। हम ‘मानव’ के माध्यम से उस अदृश्य शक्ति को अनुभव करते हैं जो ‘सृजनात्मक’ है। ‘सृजनात्मक शक्ति’ क्या है? हम नहीं जानते। हमने उसे देखा नहीं। हमने उसका स्पर्श नहीं किया। हम उसके आकार से अपरिचित हैं। पर जब हम किसी से सुनते हैं कि ‘मानव सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है’ तो, यद्यपि हमारे सामने उसका कोई स्पष्ट रूप नहीं आता, फिर भी उस ‘शक्ति’ को हम बहुत दूर तक अपने भीतर अनुभव कर लेते हैं। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि उपर्युक्त वाक्य में ‘मानव’ शब्द का अर्थ गौण है, प्रधान वह अदृश्य ‘सृजनात्मक शक्ति’ है जिसकी व्यंजना ‘मानव’ की स्थूल सत्ता के द्वारा हो रही है। तात्पर्य यह कि ‘मानव’ प्रतीक के द्वारा हम किसी अधिक सूक्ष्म और अदृश्य सत्ता को जानने का प्रयत्न करते हैं। सभी प्रकार के प्रतीकों की यही विशेषता है। मनुष्य के भावलोक में बहुत-सी ऐसी बातें होती हैं जिन्हें हम सामान्य व्यवहार की भाषा अथवा स्थूलाश्रयी बिंबों के माध्यम से नहीं व्यक्त कर सकते। ऐसे सूक्ष्म तथा अर्द्धस्पष्ट भावों के लिए मनुष्य प्रतीकों की सृष्टि करता है। मानव-सभ्यता के विकास में प्रतीकों का उतना ही योग है जितना हमारे जैवी विकास में सूर्य अथवा जल का।

‘प्रतीक’ शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से तर्क-शास्त्र, विज्ञान, मनोविज्ञान, गणितशास्त्र तथा ज्योतिष में होता है। धार्मिक क्षेत्र में तो उसका अत्यधिक महत्व है। यह महत्व इस सीमा तक बढ़ गया है कि आज की अंग्रेजी में ‘सिम्बल’ शब्द धर्म अथवा संप्रदाय (क्रीड) का पर्याय-सा बन गया है। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतीकों का प्रयोग अलग-अलग ढंग से होता है। बीजगणित के प्रतीक रूढ़ होते हैं। धार्मिक प्रतीक ‘संकेत’ तथा ‘सांकेतिक’ के तात्त्विक संबंधों पर आधारित होते हैं। साहित्य तथा कला में प्रतीकों का प्रयोग अधिक स्वच्छंद रूप में होता है। वहाँ भी वह किसी सूक्ष्म भाव-सत्ता का ही प्रतिनिधित्व करता है। पर वहीं उसकी अपनी सत्ता भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। साहित्य तथा कला के क्षेत्र में ‘प्रतीकवाद’ नाम से एक आंदोलन भी चल चुका है जिसका उद्देश्य था ऐन्द्रिय स्वप्न-प्रतीकों के द्वारा किस अतीन्द्रिय सत्य की ओर संकेत करना।

भाषा प्रतीकों से बनती है, वह निष्क्रिय रूप से गहरा किए हुए वाह्य यथार्थ के सांकेतिक नामों का समुच्चय नहीं है। भाषा स्वयं एक रचनात्मक प्रक्रिया है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति योग देता है। इस दृष्टि से



कोई भी शब्द केवलमात्र एक सूचनात्मक बिल्ला नहीं है जो किसी भी वस्तु पर चिपका दिया जाए। वह सापेक्ष रूप से अर्थवान होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति जीवन की अर्थभूमि से होती है। अतः प्रतीक कोई ‘वस्तु’ नहीं वह एक विराट रचनात्मक प्रक्रिया में पड़ने वाला ऐसा बिंदु है जो किसी पदार्थ को ‘एक निश्चित वस्तु’ के रूप में परिचित कराता है। ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक प्रतीक सापेक्ष महत्व रखता है। वह उस विशेष परिस्थिति को अभिव्यक्त करता है जिसमें वह रह चुका है और उस परिस्थिति विशेष से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं, कोई अर्थ नहीं। इसीलिए अधिकांश प्रतीकों की व्यंजकता देशकाल की सीमाओं से बाधित होती है।

आदिम मनुष्य के प्रतीक भावों को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त चिह्न मात्र होते थे। धीरे-धीरे चित्रलिपि, भावलपि और वर्णमालात्मक लिपि के रूप में क्रमशः उनका विकास हुआ। वस्तुतः इतिहास के अंधकार युग में वह आदिम मनुष्य ही था जिसने प्रतीकों की सृष्टि करके भावी मानव-सभ्यता की नींव रखी थी। आज हमारे धार्मिक अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले बहुत से चिह्न प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं। उदाहरण के लिए ‘शून्य’ पूर्णता का प्रतीक है। स्वस्ति का चिह्न ‘अनंत’ का प्रतीक है, क्योंकि उसके छोर एक असीम अवकाश में घूमते-से दीखते हैं, पर कभी एक-दूसरे को छूते नहीं। विष्णु का सुदर्शन चक्र सृष्टि की अनवरत परिक्रमा का प्रतीक है, क्योंकि उसकी गति कभी-भी अवरुद्ध नहीं होती। सरस्वती की वीणा संगीत-कला का, पुस्तक साहित्य का और हंस विवेक का प्रतीक है। इसी प्रकार चतुष्क, मंडल, कमल, वृक्ष, जल, अग्नि आदि का प्रयोग भी प्रतीकवत् होता है। मिस्र देश में पिरामिड स्थायित्व का प्रतीक माना जाता है और अपने देश में स्तूप का भी बहुत कुछ वही प्रतीकात्मक अर्थ होता है। भारतवर्ष में स्त्री-पुरुष के मस्तक पर पाया जाने वाला तिलक भी पवित्रता तथा धर्म-भावना का प्रतीक होता है।

नृत्यरत शिव-नटराज का प्रतीक भारतीय संस्कृति में बहुत बड़ा अर्थ और महत्व रखता है। नटराज शंकर अपने युगनद्ध रूप में नारी तथा पुरुष तत्वों को व्यंजित करते हैं। सिंह-चर्म से आवेष्टित उनका तारंडव नृत्य हमारे जीवन और संस्कृति के एक बहुत बड़े सत्य को व्यक्त करता है। सिंह-चर्म मानव की द्विज वासना का प्रतीक है। शंकर की ग्रीवा से लिपटा हुआ सर्प सांसारिक रागद्वेष तथा माया का प्रतीक है। उनके चरणतल में पड़ा हुआ दानव, आसुरी शक्तियों पर मनुष्य की

चिरंतन विजय का प्रतीक है। उनके हाथ में हिलता हुआ डमरू जगत की व्यवस्था और लय का प्रतीक है। उनका उठा हुआ दक्षिण हस्त लोक कल्याण और अभयदान का प्रतीक है। भारतीय कला की यह विशेषता है कि उसके प्रतीक सदैव 'समष्टिमानव' की भावना को जाग्रत करते हैं। शंकर का यह देशकाल विच्छिन्न नृत्य सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय, प्रलय और उत्पत्ति की अनंतता का प्रतीक है। उनका त्रिशूल इस समस्त प्रपंच के भीतर संतुलन और व्यवस्था को बनाए रखने वाले आध्यात्मिक तत्व तथा विवेक का प्रतीक है। इसी प्रकार समस्त पौराणिक चरित्रों तथा कथानकों की प्रतीकात्मक व्याख्या की जा सकती है।

प्रश्न यह है कि प्रतीक में शक्ति कहाँ से आती है? वस्तुतः प्रतीकों की शक्ति हमारे जातीय अनुभव की शक्ति है। प्रतीक सामूहिक भाव-परंपरा के स्मृति चिन्ह हैं। प्रत्येक पीढ़ी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार नए-नए प्रतीकों की सृष्टि करती है, पुराने प्रतीकों को नए अर्थ देती है और कुछ अर्थकृष्ट प्रतीकों को छोड़ देती है। प्रतीकों के इस स्वरूपगत तथा मूल्यगत परिवर्तन में प्रत्येक युग की अपनी सांस्कृतिक स्थितियाँ तथा कल्पनाशक्ति कारणभूत होती हैं। प्रतीक की सफलता इस बात में है कि वह हमारी पूर्व संचित अनुभूतियों को, हमारी कल्पना का, हमारे ज्ञान को, हमारी चेतना में सोये हुए उस संदर्भ से संबद्ध प्रत्येक सुख-दुख, आशा-आकांक्षा को जगाने में समर्थ हो। तात्पर्य यह कि प्रतीक की शक्ति अभिप्रेत पर्युत्सुकता (रिस्यांस) को अधिक से अधिक तीव्रता के साथ जगा सकने की सफलता में है।

रहस्यवाद प्रतीकों का प्रकृत क्षेत्र है। रहस्यवादी कवि जिस लोकोत्तर भावना को व्यक्त करता है वह इतनी सूक्ष्म और अस्पष्ट होती है कि प्रतीकों की सहायता के बिना उसकी अभिव्यक्ति असंभव है। आदिम काल से लेकर आज तक मनुष्य अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए तीन प्रकार की प्रतीक पद्धतियों को काम में लाता रहा है—

1. चेतन-अचेतन की समरसता के प्रतीक—जैसे लौह, काष्ठ तथा अग्नि में एक ही ज्वलनशील चेतन-तत्व की कल्पना। 'गिरा अर्थ जल बीच सम, कहियत भिन्न, न भिन्न' आदि उक्तियाँ इसी कोटि में आएंगी।

2. जीवन की सामान्य उपयोगी वस्तुओं के माध्यम से अनंत की कल्पना—जैसे अन्न, जल, वायु, मत्स्य तथा सोमरस में ब्रह्म की स्थिति की धारणा।

3. मानवीय संबंधों के रूप में परमतत्व की कल्पना—जैसे पिता-पुत्र, पति-पत्नी अथवा सखा-संबंध का आरोप। पिता-पुत्र की भावना ईसाई धर्म-ग्रंथों में पाई जाती है, पति-पत्नी की जायसी आदि कवियों में। व्यापक और रमणीय होने के कारण पति-पत्नी अथवा नायक-नायिका वाली कल्पना सबसे अधिक प्रचलित है।

रहस्यवादी प्रतीकों के आरोप के संबंध में कोलरिज ने बहुत गहराई से विचार किया था। कोलरिज के निकट प्रतीक एक पारदर्शी सत्ता के रूप में था जिसके माध्यम से वह 'सांत' और 'अनंत', 'सामान्य' और 'विशेष' तथा 'नश्वर' और 'अनश्वर' सब कुछ को देख सकता था। इस संबंध में कोलरिज का कथन इस प्रकार है—

"प्रतीक की यह विशेषता है कि वह व्यष्टि में किसी विशेष सत्ता का अथवा विशेष में किसी सामान्य सत्ता का अथवा सामान्य में किसी सर्वव्यापी तत्व का आभास देता है और सबसे ऊपर नश्वर वस्तु

में अनश्वर की झलक पैदा करता है।"

कोलरिज की यह परिभाषा बहुत दिनों तक रहस्यवादियों की ढाल बनी रही। निस्संदेह इस कथन के द्वारा 'प्रतीक' के मूल्यांकन में सहायता मिल सकती है परंतु हिंदी की छायावादी कविता में प्रतीकों का जिस रूप में विकास हुआ, वह कोलरिज की परिभाषा से बहुत दूर तक समर्थित नहीं होता। छायावादी कविता के अधिकांश प्रतीक लाक्षणिक हैं और उनसे किसी सर्वथा अतीन्द्रिय सत्ता की ही अभिव्यक्ति हो; यह आवश्यक नहीं। प्रसादजी और महादेवीजी की कुछ कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अवश्य एक निश्चित परंतु अस्पष्ट भावसत्य के प्रतिनिधि रूप में हुआ है पर यह प्रवृत्ति उस काव्य की मुख्य प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती।

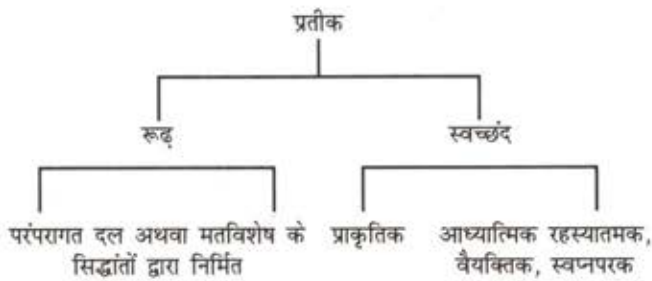
यूरोप में प्रतीकवाद के नाम से एक संप्रदाय भी चल चुका है जिसका फ्रांस में सबसे अधिक जोर था। प्रतीकवादी मानते थे कि प्रतीकों में एक प्रकार की अंतर्निहित अर्थसंपदा होती है, कविता का काम है कि वह उनका उद्घाटन करे। प्रतीकवादियों के निकट प्रतीक से बड़ा कोई सत्य था ही नहीं। यहां तक कि उनके सिद्धांत में परंपरागत उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं के लिए भी कोई स्थान नहीं था। साहित्य के विशाल अनुभव से प्राप्त प्रतीक भी उनके लिए महत्वपूर्ण न थे। वे विशेषोन्मुख और वैयक्तिक प्रतीकों को ही काव्य के लिए श्रेयस्कर मानते थे। परिणाम यह हुआ कि प्रतीकवादी धीरे-धीरे व्यक्तिगत अनुभूतियों और सपनों की दुनिया में सिमटते गए और उनके प्रतीक मानसिक जटिलताओं तथा ग्रंथियों के द्योतक बनते गए। ऐसे कवियों में बर्लेन, रिंबो, आरिद देनिस, जूल लाफोर्ग, मेलांम तथा वेलरी आदि के नाम उल्लेख्य हैं। इंग्लैंड में इसके अगुआ बने डबल्यू. बी. येट्स और टी.एस. एलियट। भारतवर्ष में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं के द्वारा पहले-पहल नवीन प्रतीकों की अर्थगत संभावनाओं की और लोगों का ध्यान गया। हिंदी की छायावादी कविता पर भी इसका प्रभाव पड़ा। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि की कविताओं में स्वच्छंद रहस्यात्मक प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

साहित्य और कला में प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अन्य क्षेत्रों में बौद्धिक प्रतीकों का प्राधय होता है, काव्य में संवेदनात्मक अथवा भावात्मक प्रतीक ही ग्राह्य होते हैं। कारण यह है कि वहां प्रतीकों का निर्माण, संचयन और योजना कल्पना के द्वारा होता है। इस कार्य में कल्पना को विशाल सांस्कृतिक उपलब्धियों और चिराचरित भावना-पद्धतियों से सहायता मिलती है। युग ने इसीलिए कहा था कि—

'कविता हमारे (वर्तमान) शब्दों के आवरण में दूरस्थ आदिम शब्दों की प्रतिध्वनि है।'

अर्थात् काव्यगत शब्दों का अर्थ किसी एक युग, व्यक्ति अथवा क्षण का नहीं होता, उनका अर्थ एक प्रवहमान ऐतिहासिक परिवेश का अंग है। इसीलिए अर्थ में एक नैरन्तर्य होता है और जब किसी कविता की हम आवृत्ति करते हैं तो उसका अर्थ वही नहीं रह जाता जो पहली बार पढ़ने पर लगा था।

छायावादी प्रतीकों का अध्ययन इसी आधार पर किया जा सकता है। सुधीते के लिए हम एक चित्र के द्वारा काव्य में पाए जाने वाले प्रतीकों की अलग-अलग स्थितियों को समझ लें। चित्र इस प्रकार है—



छायावादी कविता में प्रायः सभी प्रकार के प्रतीक मिल जाते हैं। परंतु प्रधानता स्वच्छंद प्रतीकों की ही है। स्वच्छंद प्रतीकों में भी प्राकृतिक तथा रहस्यात्मक प्रतीकों की अधिकता है। प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग प्रायः लाक्षणिक पद्धति पर हुआ है, जिसमें कल्पना आभ्यंतर संबंधयोजना के द्वारा अर्थों का उत्कर्ष उपस्थित करती है। रहस्यवादी कही जाने वाली कविताओं में रहस्यात्मक और स्वप्नपरक प्रतीकों की प्रधानता है। प्रसादजी और महादेवीजी की कविताओं में कभी-कभी परंपरागत और सैद्धांतिक प्रतीक भी मिल जाते हैं। निराला की कुछ दार्शनिक कविताओं में आध्यात्मिक प्रतीकों की अच्छी योजना मिलती है। प्राकृतिक प्रतीकों का सबसे सुंदर और व्यापक प्रयोग पंत की कविताओं में देखा जाता है। परंपरागत प्रतीकों के अंतर्गत ही पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रतीक भी आ जाते हैं। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग सामान्य रूप से सभी छायावादी कवियों ने किया है परंतु 'प्रसाद' के काव्य में परंपरागत प्रतीकों का और विशेष रूप से पौराणिक प्रतीकों का बड़ा रमणीय और उदात्त प्रयोग मिलता है। 'कामायनी' के कथानक की बनावट, उसके पात्र, स्थितियाँ, महामत्स्य, नाव, हिमालय, काम तथा लज्जा आदि सबके सब प्रतीकात्मक महत्व रखते हैं। अन्य कवियों ने पौराणिक प्रतीकों का उपयोग कम किया है। कुछ उदाहरणों के द्वारा प्रतीक योजना के विभिन्न रूपों को समझ लिया जाए। इतना ध्यान रहे कि इन प्रतीकों के निर्माण में लोककल्पना और व्यक्तिकल्पना दोनों का पारस्परिक योग है।

परंपरागत प्रतीक—इस वर्ग के प्रतीकों का छायावादी कवियों ने अपेक्षाकृत कम प्रयोग किया है और जहाँ कहीं किया है वहाँ नए संदर्भ तथा नवीन अर्थ संकेत के रूप में। महादेवीजी का निम्न छंद देखिए—

नयन में जिसके जलद वह तृप्ति चातक हूँ!
शलभ जिसके प्राण में वह निदुर दीपक हूँ!
फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ!

इन पंक्तियों में आए हुए चातक, शलभ, दीपक, बुलबुल आदि चिरपरिचित प्रतीक हैं परंतु कवियत्री ने एक नई विरोधामासमयी संबंध योजना के द्वारा इनको एक नई अर्थवत्ता दे दी है।

सांप्रदायिक प्रतीक—'कामायनी' के रहस्य सर्ग में जिन प्रतीकों का उपयोग हुआ है वे प्रायः एक मतविशेष से गृहीत और निर्मित हैं। ऐसे प्रतीकों का प्रभाव उतना व्यापक नहीं होता जितना परंपरागत अथवा प्राकृतिक प्रतीकों का। नीचे लिखी पंक्तियाँ उदाहरण हैं—

शक्ति-तरंग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण में निखर गठा-सा,
श्रृंग और डमरू विवाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा-सा

इन पंक्तियों में आए हुए त्रिकोण, श्रृंग, डमरू आदि प्रतीक

शैवदर्शन में प्रचलित हैं। आनंदवादी प्रसाद ने उनका उपयोग एक निश्चित बंधे हुए अर्थ में किया है, जिसकी प्रेरणा निस्संदेह उन्हें शैवदर्शन से प्राप्त हुई थी। अंग्रेजी के कुछ ईसाई रहस्यवादियों में सांप्रदायिक प्रतीकों का अत्यधिक आग्रह पाया जाता है।

आध्यात्मिक प्रतीक—सांप्रदायिक प्रतीकों से इस वर्ग के प्रतीकों का बहुत कम अंतर है। यदि कुछ अंतर हो सकता है तो केवल इतना कि इस वर्ग के प्रतीकों के निर्माण में कवि के अपने चिंतन और अनुभूति का भी योग होता है। निरालाजी की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता इसका उदाहरण है। महादेवीजी की 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' कविता में आध्यात्मिक प्रतीक का रूप और भी स्पष्ट है—

टूट गया वह दर्पण निर्मम!
उसमें हंस दी मेरी छाया,
मुझमें रोई ममता माया
अश्रुहास से विश्व सजाया,
खेल रहे थे आंख-मिचौनी—
प्रिय जिसके परदे में 'हम'-'तुम'!

रहस्यात्मक प्रतीक—कल्पना जब जिज्ञासा और कुतूहल से विकल होकर प्रत्यक्ष जगत की वस्तुओं में अज्ञात संकेत अथवा स्पर्श का अनुभव करती है तब रहस्यात्मक प्रतीकों की सृष्टि होती है। पंतजी की कविताओं में इस तरह के प्रतीकों का बाहुल्य है। जैसे—

कभी उड़ते पत्तों के साथ,
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको उस पार।

'उड़ते पत्ते', 'लहरों के हाथ', 'उस पार' आदि प्रतीक मानव-मन की सहज जिज्ञासा और भावुकता से प्रेरित हैं। इसीलिए इतने प्रभावशाली और समर्थ हैं। रहस्यवादी काव्य में इस वर्ग के प्रतीकों का महत्व, शक्ति और प्रभावशालिता की दृष्टि से, सबसे अधिक है। वैदिक ऋषियों द्वारा निर्मित ऋचाओं में प्राकृतिक रहस्यभावना की जो पवित्रता और मिठास मिलती है वह इसीलिए कि उनके प्रतीक अत्यंत परिचित लोक जीवन और प्रकृति से लिए गए थे। निराला और महादेवी वर्मा की कुछ कविताओं में भी स्वाभाविक रहस्यभावना से प्रेरित प्रतीक मिल जाते हैं।

इन्हीं रहस्यात्मक प्रतीकों का प्रयोग जब सहज लौकिक भावों की प्रेषणीयता के लिए होता है तो वे शुद्ध प्राकृतिक रूप में होते हैं और उन पर किसी अदृश्य सत्ता का आरोप नहीं होता। निराला, पंत, बच्चन आदि की कुछ कविताओं में प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग शुद्ध रूप में मिलता है। वैयक्तिक प्रतीकों का प्रयोग भी कुछ छायावादी कवियों ने किया है। परंतु स्वप्नपरक प्रतीकों का प्रयोग उनके काव्य में नहीं मिलता। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग कुछ अत्याधुनिक कविताओं में मिलता है।

कुल मिलाकर छायावादी प्रतीकों का निर्माण अधिकतर, कुछ एक अपवादों को छोड़कर, स्वाभाविक रूप में ही हुआ है। प्रारंभ में ये प्रतीक सहज बिंब अथवा चित्र के रूप में आते थे और बार-बार की आवृत्ति के द्वारा उत्तरकालीन छायावादी रचनाओं में इनमें प्रतीकात्मक निश्चितता आ गई। अब ये प्रतीक एक निश्चित अर्थ के बोधक हैं और सिसिल डे लुइस के शब्दों में उनमें उतनी ही अर्थगत निश्चितता है जितनी 'मैं' शब्द में होती है। 'मैं' कहने से जिस प्रकार एक निश्चित व्यक्ति का बोध होता है उसी प्रकार ये प्रतीक भी एक अस्पष्ट परंतु निर्णीत अर्थ के वाहक बन गए हैं। □

स्त्री के लिए जीने की कला

विपिन चौधरी



संपर्क : मकान नं. 1008, हाउसिंग
बोर्ड कॉलोनी, सेक्टर 15ए, हिसार
(हरियाणा)-125001

हिंदी साहित्य में छायावाद का वह युग पूरी तरह से प्रकृति को समर्पित था, प्रकृति अपने संपूर्ण रूप में लेखक के समक्ष उपस्थित हो जीवन के हर पक्ष पर अपनी मुहर लगा रही थी। उस समय के कवियों ने इंसान के जीवन को प्रकृति से जोड़ कर देखा और प्रकृति की सुंदरता और उसकी चिंता में घुलकर लिखा पर स्त्री, जिसे प्रकृति का सबसे सुंदर रूप माना जाता है, कहीं छुपी हुई थी, उसका संसार किसी रहस्य की ओट में था। वह घर-परिवार की जिम्मेदारियों में स्वाह हुई जा रही थी।

छायावाद के इसी दौर की प्रमुख हस्ताक्षर महादेवी वर्मा भारतीय स्त्री की आवाज़ बन कर उसे रहस्य के कुहासे से बाहर ला कर दुनियादारी की सीख देने वाली ऐसी दार्शनिक बनीं जिसने आने वाले समय की आहट सुन कर स्त्री को ऐसे पाठ पढ़ाए जिसकी कल्पना करना भी उस समय कठिन था। अपनी दूरदर्शिता से महादेवी भारतीय स्त्री की वह आंख बनीं जिससे स्त्री ने अपने भीतर और बाहर दोनों ओर देखा। उस समय पश्चिम के घोषित नारीवाद का उदय नहीं हुआ था। संसारभर में स्त्री की आवाज़ घुटी हुई थी। भारत के पास अपने गौरवशाली इतिहास की स्त्रियां तो थीं मगर वर्तमान में स्त्री, पुरुष की अनुगामिनी के सिवा और कुछ नहीं थी।

हिंदी साहित्य के छायावादी युग में जहां रोमानी भावनाएं समूचे रचना-संसार पर हावी थीं, वहीं वह समय भारत की शानदार प्राचीन संस्कृति से जुड़ी उत्कर्ष भावनाओं को आत्मसात् करने का भी था। इसी दौर में स्त्री-केंद्रित अपने चिंतन में महादेवी वर्मा ने पाया कि जिस युग में स्त्री सांस ले रही है वह युग स्त्री की उस छवि से कहीं अलग है जिसे प्राचीन इतिहास में वर्णित किया गया है।

महादेवी अपने निबंध संकलन 'शृंखला की कड़ियां' जिसका प्रकाशन वर्ष 1931 है, की पहली ही पंक्ति में स्त्री के लिए जिस सजगता की बात करती हैं वह उसकी स्त्री-सशक्तीकरण की पीठिका बन गई है और अब जाहिर-सी बात है कि जब स्त्री की

बात होती है तो उसमें सारे जगत की स्त्रियां भी अनायास ही शामिल हो जाती हैं।

महादेवी भारतीय स्त्री के उस शीर्ष इतिहास से अपनी बात शुरू करती हैं जब स्त्री अपने अस्तित्व के प्रति अत्यधिक सजग थी। फलस्वरूप उसकी अपनी अलग पहचान थी।

प्राचीन भारतीय महिलाओं को प्रारंभिक वैदिक काल (2000 ई. से 1000) के दौरान वह उच्च दर्जा प्राप्त था जो प्राचीन ग्रीस और रोम में समकालीन सभ्यताओं से भी ऊपर था।

दूसरी तरफ 1931 के दौर में महात्मा गांधी के नेतृत्व में हज़ारों महिलाओं ने आज़ादी के आंदोलन में हिस्सा लिया और पुलिस की लाठी और बंदूकों का निडरता से सामना किया। देश के प्रति समर्पण की भावना के साथ ही वे अपने अधिकारों के प्रति भी सचेत हुईं।

उन्हें लगा कि वे किसी प्रकार के डर से दूर जा चुकी हैं और उनके पास हौसला और अटूट उम्मीद है। आगे चल कर इसी चेतना का विस्तार वे अपनी अगली पीढ़ी को विरासत के तौर पर सौंप कर गईं।

महादेवी वर्मा न सिर्फ स्त्री के इतिहास से वर्तमान की यात्रा पर बात करती हैं बल्कि स्त्री की सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक संरचना पर भी अपनी बारीक नज़र रखती हैं। स्त्री के पुरुष में विलीन होकर खुद के अस्तित्व को मिटाने वाली बात महादेवी के गले नहीं उतरती। वह स्त्री को एक ऐसी सामाजिक इकाई के रूप में देखती हैं जिसके विकास से समाज का विकास जुड़ा हुआ है। जिस तरह आधुनिक स्त्री अपने सहज गुणों को खोकर पुरुष बनना चाहती है उससे महादेवी की असहमति है। यहां गौर करने लायक बात यह है कि महादेवी जानती थीं कि स्त्री निरंतर आगे बढ़ती जाएगी। उसे रोकना नामुमकिन है। वहीं महादेवी यह भी जानती हैं कि इस आगे के सफ़र में स्त्री अपनी नैसर्गिकता खो बैठेगी। वे स्त्री के सहज गुणों को उसकी शक्ति का सबसे अहम हिस्सा मानती रहीं।



महादेवी वर्मा

वास्तव में क्या यह सच नहीं कि आज की विद्रोहशील नारी व्यावहारिक रूप में कठोर हो गई है। चाहे उसके पीछे उसके निरंतर संघर्षों का अनवरत सिलसला है जिससे उसे लगातार जूझना पड़ता है।

1931 के बाद भारत में कितने ही चरणों में प्रगति हुई। स्त्री को भी इस प्रगति से लाभ मिला लेकिन इसी क्रम में उसकी चेतना और ऊर्जा का निरंतर हास होता गया, कामकाजी स्त्री पर दोहरा-तिहरा भार आ गया। वह चिड़चिड़ी और अवसाद ग्रस्त होती चली गई और इसका असर उसके पारिवारिक रिश्तों पर भी पड़ा।

स्त्री की कोमलता की पक्षधर महादेवी वर्मा का मानना था कि जब एक स्त्री अपनी तयशुदा सामाजिक स्थिति के खिलाफ विद्रोह कर अपने लिए एक नया स्पेस रचती है तो उसे कई संघर्षों से गुजरना पड़ता है, इसी कर्म में वह अपनी स्वाभाविक सरलता खो बैठती है। इसी चुनौती को वह आने वाली नई स्त्री के सामने रखती है कि स्त्री को अपने सहज गुणों के साथ ही नए संसार में प्रवेश करना होगा अन्यथा उसके भीतर उठर गई शुष्कता उसे परेशान करेगी और वह अपने जीवन की स्वयं अर्जित उपलब्धियों का स्वाभाविक आनंद नहीं उठा पाएगी।

स्त्री कई सामाजिक संबंधों से जुड़ी है इसलिए किसी भी काम को अंजाम देने के लिए उसे अपना पहला कदम उठाने से पहले, आगे-पीछे, दाएं-बाएं देखना पड़ता है। उसकी ऊर्जा का एक बड़ा हिस्सा सामाजिक बंधनों से लड़ने में खर्च होता है। नए युग ने स्त्री के जीवन को उत्तरोत्तर अधिक कठिन ही बनाया है। पुरुष ने जिस सहज तरीके से इस वैज्ञानिक युग का आनंद उठाया उस तरह स्त्री नहीं उठा सकी। चीजें उसके पास बहुत श्रम के साथ आईं।

विवाह के वर्तमान स्वरूप से महादेवी खुश नहीं थीं, तभी उन्होंने लिखा—

“विवाह मनुष्य जाति की असभ्यता की भी सबसे प्राचीन प्रथा है और सभ्यता की भी परंतु उसे सामाजिक के साथ-साथ नैतिक और धार्मिक बंधन बनाने के लिए अधिक परिष्कृत करना होगा।”

‘परिवार’ नामक संस्था में स्त्री के लिए वह अवकाश और स्पेस नहीं है जिसमें वह अपने लिए अलग से कुछ कर सके। स्त्री के लिए परिवार एक हद तक अपने-आप को मिटा देने का नाम बन गया है। परिवार में स्त्री की स्वतंत्र इकाई के रूप में उभरना पुरुष को पसंद नहीं। वह चाहता है स्त्री हर काम उसकी आज्ञानुसार ही करे, स्त्री की बुद्धिमत्ता उसका सौंदर्य सिर्फ उसके ही नाम पर हो। पति के बाद बच्चों का नंबर आता है। वे भी अपनी मां को अपना स्पेस रचते देखना पसंद नहीं करते। इसीलिए स्त्री अपना कद निकालते हुए भी डरती है। महादेवी ने एक आत्मनिर्भर स्त्री के लिए आश्वस्ति देखी और उसे पीछे खींचने वाली ताकतें भी देखी पर वे जान गई थीं कि अब स्त्री को उजले पथ पर जाने से कोई नहीं रोक सकता।

महादेवी ने युद्ध जैसी विश्वव्यापी समस्या को भी अपने लेख के केंद्र में रखा। उस समय शायद ही किसी बौद्धिक हस्ती का युद्ध में स्त्री की दशा पर ध्यान गया हो।

इस पुस्तक के 1933 में लिखे एक निबंध में महादेवी कहती हैं कि स्त्री पुरुष के दृष्टिकोण से युद्ध को नहीं देख सकती। स्त्री के स्वभाव में शांति और करुणा का समावेश है जो युद्ध की मारकाट से कहीं विपरीत है। वहीं पुरुष स्त्री का युद्ध से दूर रहने को भी उसकी कमजोरी मानता रहा।

संसारभर ने अपनी धरती पर अनेकों युद्ध देखे और युद्ध के बाद जीवन का दोबारा से निर्माण होते भी देखा। इस निर्माण को संभव

बनाया सिर्फ स्त्री ने। वही जीवन को दुबारा हरा होने का सपना देखती थीं और उसे पूरा करने में कोई कसर नहीं छोड़ती थी। महादेवी जानती थीं कि पूरा संसार युद्ध-स्थली बनता जा रहा है। ऐसे में स्त्री भी युद्ध का एक हिस्सा बनने जा रहा है। स्त्री का यही पक्ष इस लेख की चिंता के केंद्र में था।

स्त्री के एक पास प्रकृति-प्रदत्त अनेकों निजी ताकतें हैं जो उसे अलहदा बनाती हैं लेकिन उसके ताकतों का मुंह या तो घर-परिवार के लिए है या समाज के लिए। वह इन उपलब्धियों की ऊर्जा को अपने लिए खर्च नहीं करना चाहती। यही एक रुकावट है स्त्री के लिए जिसे वह स्वीकारते भी झिझकती आई है।

हमारे वेद-पुराणों में वर्णित नारी के कर्तव्यों को सुनते हुए वह अपने को उसी रूप में देखना पसंद करती है और हर युग में इन सीखों, कर्तव्यों का भार बढ़ता ही जाता है और स्त्री के अस्तित्व को नई संरचना में ढलने से रोकता है।

स्त्री को हर हाल में आध्यात्मिक होना है, ऐसा माना गया है। यह भी एक ढकोसला है उसे मर्यादाओं में बांधने का। महादेवी का मानना है कि स्त्री अपना संविधान खुद रचे, इसके लिए उसे हर हाल में जीने की कला सीखनी होगी और इस बार उसका मार्गदर्शक पुरुष या समाज नहीं बल्कि वह स्वयं होगी।

महादेवी का मानना था कि स्त्री की स्थिति पर विचार-विमर्श करने के लिए भावुकता का त्याग करना होगा। स्त्री के प्रति हम संवेदनशील होकर बात करते हैं परंतु स्त्री से जुड़े सभी मुद्दों पर सजगता की मांग करते हैं। स्त्री के अधिकारों, उसकी आत्मनिर्भरता के लिए जागरूक कदम उठाने की आवश्यकता है।

किसी भी विषय को सदा भावुकता के दृष्टिकोण से देखना उचित नहीं। इन स्त्रियों की स्थिति को भी हम केवल उसी दृष्टिकोण से देखकर न समझ सकें।

महादेवी अपनी बात कहते हुए साफ करती हैं कि, “समस्या का समाधान, समस्या के ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। सामान्यतः भारतीय नारी में इसी विशेषता का अभाव मिलेगा। कहीं उसमें साधारण दयनीता है और कहीं असाधारण विद्रोह है परंतु संतुलन से उसका परिचय नहीं।” हमारे समाज में संपन्न से लेकर श्रमजीवी नारियों तक अज्ञान एकरस और व्यापक है।

स्त्री अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं थी तभी उसकी इस अज्ञानता के कारण समाज का परंपरागत ढांचा और उसका परिवेश उसे घर की चारदिवारी तक ही सीमित रखने में सफल हुआ।

महादेवी कहती हैं कि स्त्री के लिए कानून तभी काम कर सकेगा जब वह आत्मनिर्भर होगी।

“यदि स्त्री को अर्थ संबंधी वे सुविधाएं प्राप्त हो सकें जो पुरुषों को मिलती आ रही हैं तो न उनका जीवन उनके निष्ठुर कुटुम्बियों के लिए भार बन सकेगा और न ही वे समाज से निकाल कर फेंकी जा सकेंगी प्रत्युत वे अपने शून्य क्षणों को देश के सामाजिक तथा राजनैतिक उत्कर्ष के प्रयत्नों से भर कर सुखी रख सकेंगी।”

महादेवी स्त्री-जीवन से जुड़े लगभग सभी मुद्दों पर राय रखती हैं और स्त्री के इतिहास और वर्तमान के सभी सूत्रों पर अपने विमर्श का हवाला देते हुए स्त्री के लिए वह पाठ रचती हैं जिससे स्त्री-जीवन के नए पथ की प्राथमिक तैयारी हो सके और वह स्त्री-विमर्श के चमकते विमर्शों की भीड़ में गुम होने की बजाए अपने-आप पर अटूट भरोसा रखे। फिर तो सारा आसमान ही उसका है। □

बहुआयामी सांस्कृतिक साहित्यकार

विनोद कुमार सिन्हा



संपर्क : ग्राम+पोस्ट-बेलाही नीलकंठ,
वाया-अथरी जिला-सीतामढ़ी-843311
(बिहार) मो. 9934679796

भारतीय भूमि आदिकाल से आधुनिक काल तक अनेक साहित्यकारों से भरी पड़ी है परंतु जो साहित्यकार हमारी ऐतिहासिक संस्कृति की रक्षा करते हुए हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में साहित्य-सृजन करते हों, उंगली पर गिनने लायक हैं। वैसे ही गिने-चुने साहित्यकारों की श्रेणी में एक नाम आता है महापंडित राहुल सांकृत्यायन का।

आज से सवा सौ वर्ष पूर्व 9 अप्रैल, 1893 को पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिला के एक छोटे-से ग्राम पन्दाहा में एक अद्भुत बालक केदार पांडेय का जन्म हुआ जो अपनी प्रौढ़ता के क्रम में दामोदर दास और अंत में राहुल सांकृत्यायन के नाम से देश ही नहीं विदेश में भी विख्यात हुए। नाम-परिवर्तन के साथ-साथ इनका धर्म-परिवर्तन और राजनीति-परिवर्तन भी होता रहा। ये पहले आर्यसमाजी थे बाद में बौद्धधर्मी बन गए और अंत में साम्यवादी मानवधर्मी। जहां तक विचारधारा का प्रश्न है, प्रारंभ वे पराधीन भारत में कट्टर कांग्रेसी थे बाद में कट्टर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट हो गए।

राहुल विश्व-भ्रमण करते हुए 36 भाषाओं के ज्ञाता हो गए। इन्होंने कविता छोड़कर साहित्य की लगभग सभी विधाओं-यात्रा-साहित्य, निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक, ऐतिहासिक निबंध, आत्मकथा, जीवनी, संस्करण कोश-निर्माण आदि को साहित्य का माध्यम बनाया। विद्वानों का कथन है कि अपने जीवन काल में राहुलजी ने डेढ़ सौ ग्रंथ लिखे जिसकी पृष्ठ संख्या पचास हजार से ऊपर रही होगी।

बचपन से ही राहुलजी का यायावर व्यक्तित्व था और दस वर्ष की उम्र से ही घुमक्कड़ी प्रारंभ कर दी-चुपचाप घर में बिना कुछ कहे बनारस चले गए। सत्रह वर्ष की उम्र में हिमालय की यात्रा पर निकल पड़े। यही कारण था कि यायावर साहित्य के ये पितामह बन गए।

बचपन से ही घुमक्कड़ रहने के कारण इनके पास अनुभवों का खज़ाना आ गया। तब बचपन से जवानी तक के अपने कटु अनुभवों को मिसाल बनाते हुए राहुलजी ने 'घुमक्कड़ शास्त्र' में लिखा—

“मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ी

से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। यह मैं अवश्य कहूंगा कि यह दीक्षा वही ले सकता है जिसमें भारी मात्रा में हर तरह का साहस है तो उसे किसी की बात नहीं सुननी चाहिए, न माता के आंसू बहाने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने, न भूल से विवाह में लाई अपनी पत्नी के रोने-धोने की फिक्र करनी चाहिए।”

1957 में जब मैं इंटर का छात्र था तो कोर्स की पुस्तक में राहुलजी का निबंध पढ़ा था और शायद उसी का प्रभाव था कि आई. एस. सी. की परीक्षा देने के बाद मैं भी चुपचाप घर से निकल पड़ा परंतु पक्का घुमक्कड़ नहीं बन पाया। चार-पांच माह के बाद ही लौट आया। मेरा दुर्भाग्य! परंतु यायावर साहित्य का पाठक अवश्य बन गया। बाद में उनकी पत्नी कमला सांकृत्यायन से भी मिला। बहुत दिनों तक कमलाजी से पत्राचार भी होता रहा। उन दिनों उनके बच्चे जया और जोता शिशु थे, दार्जिलिंग में रहते थे।

राहुलजी जब विभिन्न स्थानों की यात्रा पर निकलते थे तो वहां के इतिहास, भूगोल, पुरातत्व, सभ्यता, संस्कृति तथा कला-कौशल सभी के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करते थे और अपने साहित्य में उसका उल्लेख भी करते थे।

राहुलजी की साहित्यिक रचनाधर्मिता यायावर-साहित्य से ही प्रारंभ हुई। उन्होंने स्वीकार भी किया है, “कलम के दरवाजे को खोलने का काम मेरे लिए यात्राओं ने ही किया, इसीलिए मैं कृतज्ञ हूँ।”

1926 से ही यायावर-साहित्य की रचना प्रारंभ हुई जो 1955 तक चलती रही।

राहुलजी के यायावर-साहित्य के संबंध में तो सैकड़ों निबंध लिखे गए परंतु मैं उनके उपन्यास और कहानी की भी चर्चा करना चाहता हूँ।

‘सिंह सेनापति’ में ईसा पूर्व पांचवीं शती के लिच्छवी गण का इतिहास है और ‘जय यौधेय’ चतुर्थ शती के उत्तरार्ध के यौधेय गण का इतिहास है।

‘मधुर स्वप्न’ छठी शती के मध्य एशिया के सासानी वंश



का इतिहास है। राहुलजी ने कुछ अन्य उपन्यास भी लिखे हैं जिसे सामाजिक, राजनैतिक और विवरणात्मक उपन्यास भी कहा जा सकता है। इस वर्ग के उपन्यास हैं— (1) 'बाइसवीं सदी' (1923-24), (2) 'जीने के लिए' (1940), (3) 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो' (1944), (4) राजस्थानी रनिवास (1953)।

'बाइसवीं सदी' उपन्यास की पांडुलिपि तो 1918 में ही तैयार हो गई परंतु प्रकाशन 5-6 वर्षों के बाद हुआ। उन दिनों राहुलजी हजारीबाग जेल में थे। इस उपन्यास में कुल 16 अध्याय हैं— लंबी नौद का अंत, सेब ग्राम का बाग, वर्तमान जगत्, ग्राम और ग्रामीण, नालंदा में स्वागत, शिक्षा-पद्धति, भारत में प्रजातंत्र आदि। उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा है। इस उपन्यास का मुख्य नायक विश्वबन्धु पहाड़ की गुफाओं में दो सौ वर्षों की गहरी निद्रा से जगने के बाद बाइसवीं सदी के सुखद-काल में प्रवेश करता है। विश्वबन्धु पहाड़ी गुफाओं में कितने दिनों तक निराहार भी रह जाता था जिसके फलस्वरूप कृशकाय हो गया है। बाल भी सन की तरह उजले हो गए हैं। इस उपन्यास के 'सेब ग्राम का बाग' अध्याय में सेब ग्राम की आबादी पांच हजार की बतलाई गई है जिसमें लगभग तीन हजार लोग दूसरी जगह के हैं। उस ज़माने में 5-6 वर्ष की उम्र में बच्चे विद्योपार्जन प्रारंभ करते थे परंतु राहुलजी की दूरदर्शिता देखें— उनके सेब ग्राम में 3 वर्ष के बच्चे ही विद्यालय में प्रवेश करते थे और 20 वर्ष की उम्र में शिक्षा समाप्त कर जीविकोपार्जन हेतु बाहर चले जाते थे जिसमें बहुत कम गांव वापस लौटते थे।

साहित्यकार भविष्यवक्ता होता है— अपनी दूर-दृष्टि के बल पर वह आने वाले समय का भी अंदाज़ कर लेता है। असल में उस ज़माने में राहुलजी ने दो सदी आगे की परिकल्पना की थी। उस ज़माने में विद्युत-प्रौद्योगिक की कल्पना देखें—

“अब बिजली का उपयोग अधिक होने से कोयले की उतनी बड़ी आवश्यकता नहीं रही। बिजली तैयार होती कई नदियों के जल-प्रपात से। यह रेल भी उसी बिजली से चलाई जाती है। फिर उसी से हमारी मोटरें चल रही हैं।”

(‘बाइसवीं सदी’, पृ. 15)

अब भारतीय शिक्षा की उत्कृष्टता की कल्पना देखें—

“अब नालंदा बहुत विशाल विद्यालय है। पुराने बड़गांव से राजगृह तक विद्यालय के ही भवन और छात्रावास चल रहे हैं। वहां अध्ययन के लिए यूरोप-अमरीका, जापान, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया सभी जगहों से विद्यार्थी आते हैं। नालंदा को अभिमान है कि उसने अंतरराष्ट्रीय इतिहास को प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता की है। संस्कृत, पालि, जन्द, प्राकृत, यवनामी, लातीनी (रोमन) इत्यादि बहुत-सी भाषाओं के वहां अध्यापक हैं। ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन भी सबसे अच्छा नालंदा में है।”

(‘बाइसवीं सदी’ पृ. 19)

राहुलजी ने 1924 में ही नशा-मुक्ति वातावरण अपने उस उपन्यास में दिखाया था। इतना ही नहीं उपन्यास के बहाने छुआछूत, जाति तथा लिंग-भेद उन्मूलन की भी कल्पना की थी।

राहुलजी का दूसरा उपन्यास और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस उपन्यास में प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका और अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की भयंकर लूट-खसोट और शोषण से त्रस्त भारतीय समाज का चित्रण है। इसका नायक देवराज है। वह अंग्रेज़ों से नफरत के बावजूद ब्रिटेन की ओर से जर्मनी के विरुद्ध विश्वयुद्ध में भाग लेता है और एक साधारण सैनिक से पदोन्नत होकर विक्टोरिया क्रॉस प्राप्तकर्ता जमादार बन जाता

है। देवराज जब वापस भारत लौटता है तो किसानों का संगठन बनाता है। किसानों के लिए संघर्ष करता है और कई बार जेल भी जाता है। जब देवराज लंदन जाता है तो वह घायल हो जाता है। वहां 'जेनी' नामक एक नर्स देवराज की अकथ सेवा करती है। देवराज को जेनी से प्यार भी हो जाता है। जेनी गर्भवती होती है परंतु जब वह मां बनती है तब तक देवराज भारत लौट आता है। चौदह वर्षों के बाद देवराज पुनः लंदन जाता है तो अपनी पत्नी जेनी और पुत्र से मिलता है। उसके बाद कभी नहीं जा पाता।

राहुलजी ने इस उपन्यास के माध्यम से अपनी कहानी भी दोहराई है तथा अपना साम्यवादी दृष्टिकोण भी उजागर किया है। राहुलजी की रूसी पत्नी एलेना थीं परंतु वे मात्र एक बार ही अपनी पत्नी और बच्चे को देखने रूस जा सके।

राहुलजी नहीं चाहते थे कि भारतीय अंग्रेज़ों की चापलूसी करें। जब भारतीय चापलूसी करने लगते थे तो राहुलजी बहुत दुःखी हो जाते थे और इसका कारण भारतीय अशिक्षा, धार्मिक अंधविश्वास और अति विनयशीलता मानते थे। परोक्ष रूप में राहुलजी ने उस उपन्यास में एक अंग्रेज़ अफसर जॉन्स के मुंह से कहवा भी दिया है। जॉन्स कहता है—

“ये कब मनुष्य के तौर पर हमारे सामने आते हैं? उनकी झूठी चापलूसी से तो मैं ऊब जाता हूँ। चाहे राजा, महाराजा, नवाब को लीजिए, चाहे साधारण गंवार को सभी हमारे सामने पैर में पूँछ डोलाने का अभिनय करते हैं। ऐसे लोगों के साथ हम कैसे मनुष्यता का व्यवहार कर सकते हैं।”

अंग्रेज़ यहां हमारी सेवा के लिए नहीं आए थे, व्यापार करने के लिए आए थे और शासक बन बैठे। उनकी नीयत क्या थी— इसके संबंध में राहुलजी का एक पात्र कर्नल ज्याफरे उसी उपन्यास में कहता है, “हम को अपना शासन और शोषण सफलतापूर्वक जारी रखने के लिए कुछ शिक्षित और संपन्न हिंदुस्तानियों की भी आवश्यकता है। इसलिए हमने उसकी भी व्यवस्था कर रखी है। हमने रेल बनाई हैं विद्रोह को दबाने के लिए, सेना तथा अपने माल को एक जगह से दूसरी जगह शीघ्र और आसानी से ले जाने के लिए न कि गरीबों को आराम से यात्रा करने के लिए।”

इस प्रकार 1900 से 1939 तक के भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति का अपनी साम्यवादी दृष्टि से एक उपन्यास में चित्रित करना बड़ा ही कठिन कार्य और साहस था जिसे राहुलजी ने साकार किया।

1945 में राहुलजी का एक और उपन्यास आया— 'विस्मृति के गर्भ में'। इसकी कहानी तो मिस्र देश से संबंधित है— परंतु यह उपन्यास थोड़ी कल्पना तथा ढेर तथ्यों से परिपूर्ण है। इसमें इतिहास, यात्रा-वर्णन, संस्कृति तथा औपन्यासिक कला चारों का मिश्रण है।

राहुलजी के उपन्यासों को समीक्षक सामाजिक कहें, राजनैतिक कहें या ऐतिहासिक कहें परंतु 7 जनवरी, 1956 को वाराणसी हिंदू विश्वविद्यालय के भारतीय साहित्य संघ समारोह में राहुलजी ने अपने उपन्यासों के संबंध में कहा था—

“मेरे उपन्यास कई शिलालेखों तथा संस्कृत, पालि, तिब्बती, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्राचीन ग्रंथों तथा ऐतिहासिक प्रमाणों एवं तथ्यों पर आधारित हैं जिसमें कल्पना की गुंजाइश कम है जिसके फलस्वरूप मेरे उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास नहीं औपन्यासिक इतिहास हो गए हैं।”

राहुलजी के तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं—

(1) 'सप्तमी के बच्चे' (1935), (2) 'वोल्गा से गंगा' (1943), और (3) 'बहुरंगी मधुपुरी' (1953)।

'सप्तमी के बच्चे' कहानी-संग्रह की कहानियों में ग्रामीण शोषण की त्रासदी और विद्रोह करते ग्रामीणों की चेतना का वर्णन है। राहुलजी के मार्क्सवादी विचारधार के कारण कहानियां मानवीय संवेदना को चित्रित करती हैं उसमें यथार्थ उजागर हुआ है जो विद्रोह तो अवश्य दिखाती परंतु एक आशा की किरण भी दिखाई पड़ती है। कहानियों में शिल्प की विशिष्टता नहीं है फिर भी कहानियां मार्मिक बन पड़ी हैं।

'वोल्गा से गंगा' पुस्तक राहुलजी को एक परिपक्व एवं वरिष्ठ कहानीकार बनाती है। प्रेमचंद की तरह इस संग्रह के उपेक्षित, दबे-कुचले पात्र समाज का सही चित्रण कर पाते हैं और उनकी वाणी कठोर एवं विद्रोह वाली हो जाती है। इसमें अतीत और वर्तमान दोनों का चित्रण है। 600 ईसा पूर्व से 2500 ईसा पूर्व की भी बातें हैं और 18वीं शताब्दी का भी चित्रण है। अंग्रेजों ने ज़मींदारों का निर्माण किया। उसे दलालों या एजेंटों की जरूरत थी जो उसके शोषण की कड़ी बन सकें। 'वोल्गा से गंगा' कहानी-संग्रह की एक कहानी 'सुमेर' में तत्कालीन समाज का चिन्तना एवं कटु चित्र देखें—

कहानी का नायक सुमेर कहता है—

"हजारों वर्ष से हमारी जाति पशु से भी बदतर, अपमानित समझी जा रही है और उसी भगवान के नाम पर, जो हिंदुओं की बड़ी जातियों की ज़रा-ज़रा सी बात पर अवतार लेता रहा, रथ हांकता रहा किंतु सैकड़ों पीढ़ियों से हमारी स्त्रियों की इज्जत बिगाड़ी जाती रही। हम बाजारों में सोनपुर मेले के पशुओं की तरह बिकते रहे। आज भी मार खाना, भूखे मरना ही हमारे लिए भगवान की दया बतलाई जाती है। इतना होने पर भी जिस भगवान के कान पर जूं तक नहीं रेंगी, उसे माने हमारी बला" ('वोल्गा से गंगा', पृ. 375)

आज़ादी से पूर्व भी राहुलजी के पात्रों में चेतना आ गई। वे यह मानने को कतई तैयार नहीं कि उपेक्षित, दलित होना भगवान की देन है। अगर भगवान की देन है तो भगवान पर विश्वास भी डगमगाने लगता है। आज पचहत्तर वर्ष के बाद भी राहुलजी की कलम से प्रस्फुटित सुमेर की वाणी प्रासंगिक है। राहुलजी का तीसरा कहानी-संग्रह 'बहुरंगी मधुपुरी' सामान्य कहा जा सकता है। इस संग्रह की कहानियों में भी सामाजिक तथा आर्थिक असमानताओं का चित्रण किया गया है।

इतने विशाल हृदय वाले, बहुआयामी तथा बहुभाषाविद् का अंतिम समय बड़ा दुःखद रहा। वे मस्तिष्क पक्षाघात से पीड़ित हो गए परंतु उनकी चिकित्सा भारत सरकार द्वारा न होकर रूस सरकार द्वारा की गई। ऐसा क्यों? यह प्रश्न आज भी दिल को कचोटता रहता है।

राहुलजी मात्र एक निबंधकार, कहानीकार, साहित्यकार नहीं थे, वे एक राष्ट्रवादी थे, राष्ट्रभक्त और भारतीय संस्कृति के बहुत बड़े पोषक एवं रक्षक थे। वे अतीत की विस्मृतियों को स्मृति पर लाने वाले साहित्य स्रष्टा थे। राहुलजी ने एक बार सवाल किया था कि—

"मुझे तो ख्याल आता था, क्या नालंदा बिहारियों का आक्सफोर्ड नहीं बन सकता, वह भी राजधानी पटना से उतनी दूर है जितना कि लंदन से उक्त विद्यालय। उनके पीछे भी सात-आठ शताब्दियों का भव्य इतिहास है। यदि उन्हें मिल्टन और स्पेंसन जैसे कवि, न्यूटन और डार्विन जैसे वैज्ञानिक पैदा करने का अभिमान है तो नालंदा को भी दिङ्नाद, चंद्रकीर्ति, धर्मकीर्ति और शांतिरक्षित जैसे अद्भुत दार्शनिक, चंद्रगोभी जैसे महावैयाकरण, सरहपाद, मुसुक जैसे कवि पैदा करने का भी सौभाग्य प्राप्त है।"

(‘मेरी यूरोप यात्रा’, ले. राहुल सांकृत्यायन) □

मुकुटधर पांडेय...

पृष्ठ 19 से आगे

को शास्त्र के नियमों में जकड़ना उन्हें पसंद नहीं था। इसीलिए काव्य के नए मानदंडों को महत्व देते हुए उन्होंने रूढ़िवादी काव्य शास्त्र के मार्ग का विरोध किया। स्वतंत्रता और नैतिकता का प्रश्न उठाते हुए उन्होंने लिखा, "निश्चित रीति से कविता करने में कवि को अपनी प्रतिभा धारा बहाने के लिए मार्ग ढूंढ निकालने को इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता।... किंतु इससे उसे अपनी स्वतंत्रता तथा साहसिकता दिखलाने का अवसर बिलकुल नहीं आता।" (वही) इस प्रकार रीति-ग्रंथों, शास्त्रीय नियमों और द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक प्रवृत्तियों का उन्होंने विरोध किया। यह ध्यान देने की बात है कि रीतिवाद का विरोध बाद में पंतजी ने ('पल्लव' की भूमिका में) और निराला ने ('परिमल' की भूमिका में) भी किया।

जैसा कि पीछे हमने संकेत किया है कि मुकुटधरजी की रचनाएं प्रगीतात्मक हैं और शैली, वृत्तसंवर्ध जैसे रोमांटिक कवियों की प्रगति-कला का उन पर प्रभाव है, किंतु उनके यहां राष्ट्रीय-चेतना से संपन्न गीतों की भी कमी नहीं है। एक उदाहरण देखिए—

प्रिय-परिवार पुत्र-पत्नी को अंतिम गले लगाने दो,
हो बंधन विच्छिन्न समर का अमर-राग अब गाने दो।
आज बर्फ की चट्टानों पर गर्म खून जम जाने दो,
जाने दो, जाने दो, हमको विजयी बन कर आने दो।

मुकुटधर पांडेय ने न केवल कविता और निबंध के माध्यम से अपनी नवीन चेतना का परिचय दिया वरन् अनेक श्रेष्ठ कहानी और समस्यापरक उपन्यास भी लिखे। वे एक अच्छे अनुवादक और संस्मरणकार भी थे। उन्होंने संस्कृत और उड़िया की अनेक श्रेष्ठ कृतियों का हिंदी और छत्तीसगढ़ी में अनुवाद किया है।

अंततः कहा जा सकता है कि मुकुटधर पांडेय की रचना-धर्मिता एक व्यापक फलक पर प्रतिष्ठित है। उन्होंने छायावाद को एक नवीन दृष्टि दी और चेतना का नया मार्ग प्रशस्त किया। उनके निबंधों में तत्कालीन रचना-धर्मिता की सूक्ष्म व्यंजना के साथ-साथ दूसरे-तीसरे दशक की खड़ी बोली हिंदी की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। निश्चय ही, उनकी रचना-यात्रा, नव युग का शंखनाद है। □

बदनाम

संजीव



संपर्क : 22-सी, न्यू डी.डी.ए.,
जनता फ्लैट, चिल्ला, मयूर
विहार, फेज-1, दिल्ली-110091
मो. 08587832148

मुहल्ला है या कबाड़खाना, आए दिन कोई-न-कोई हंगामा! एक रात भी चैन की नींद नसीब नहीं। मगर कमरे के अंदर गर्मी थी, सो मैं घर के बाहर ही खाट डाल कर सोया पड़ा था। मना रहा था कि बाहर कोई हंगामा न हो; मगर न। शुरू हो गया। कुछ ज्यादा ही। नींद टूट गई और लेटे ही लेटे मैं अनुमान लगाने लगा कि माजरा क्या है। शायद किसी लड़की-वड़की का मामला था। सहसा, लगा कोई मेरे सिरहाने खड़ा है। कौन हो सकता है? कहीं वही तो नहीं?

किसी अनजान प्रेरणावश मैंने अपनी दोनों बांहें पीछे कीं, जो उसके बदन से टकरा गई। कुछ ही पल बीते होंगे कि वह फुसफुसाई, “छोड़ो। कोई देख लेगा।” और धीरे से मेरे पास से परे छिटक गई। एक झटक से मेरे गहराते रोमांस का अंत हो गया।

सुबह गली में रात की चर्चा थी, “रात का वह झगड़ा उसी को लेकर हुआ था।” किसी ने कहा।

“उसके चलते जो न हो जाए, कम है। कातिक की कुतिया है। पक्की कुतिया! आक थू!” किसी दूसरे ने पैबंद जोड़ा।

वह मेरी क्या लगती थी, कुछ भी तो नहीं। फिर मैं उस पर की गई किसी ऐसी-वैसी टिप्पणी को क्यों नहीं सह पा रहा था! उसका जिक्र आते ही क्यों सनसनी-सी होने लगती थी मुझमें?

रेलवे गार्ड के रूप में वह मेरी पहली पोस्टिंग थी। कुलहाडी के अपने स्टेशन पर अपनी गुड्स ट्रेन खड़ी कर मुझे चार्ज दूसरे को सौंप देना था। इससे निवृत्त होते ही मैं प्लेटफार्म पर खड़ा था कि सहसा किसी नई-नवेली दुल्हन ने आकर मेरे पांव छुए। लाल साड़ी, लाल ब्लाउज। साड़ी पर छोटे-छोटे सफेद फूल, आलता लगे पांव, लाल नेलपॉलिश, मस्तक पर लाल टीका, होंठों पर लाल लिपिस्टिक, सिंदूर तो खैर लाल था ही, उंगलियों के पोर तक लाल!

उसकी देखा-देखी पीली धोती में एक गावदी-से युवक ने भी मेरे पांव छुए। वह मुनिया थी और यह युवक संभवतः उसका दूल्हा। पास ही खड़ी मुनिया की मां से मैंने उन्हें पहचाना।

रास्तेभर लाल साड़ी के सफेद फूल झरते रहे शोफाली की तरह और मैं चुनता रहा, उसकी महक से महमहाता रहा। इतनी जल्दी इतनी बड़ी हो गई मुनिया। बड़ी ही नहीं, सुंदर भी! गली के एक छोर पर मुनिया का घर था, दूसरे छोर पर मेरा, सो घर आते-जाते दिख ही जाती अक्सर। देखते ही देखते, उसका फूस का झोंपड़ा माटी के खपड़ैल में ढला था और वह किशोरी से नवयुवती में। अभी कल तक तो अपनी बकरी के कान पकड़कर खींचे लिए आती और आज वह विवाह कराकर बकरी की जगह पति का कान पकड़कर खींचे लिए आ गई। मां-बाप भट्ठी से लाई दारू बेचते हैं, वही लाती है। एक भाई है जो स्कूल जाता है। दामाद के रूप में उसकी मां ने आज अपना घरजमाई ढूंढ़ लिया है। चलो ठीक है। उनकी अपनी जिंदगी है। मुझे इससे क्या?

उस दिन के बाद ‘वह दुल्हन’ फिर नहीं दिखी। एक-एक कर

सारे रंग-रोगन झर गए। साल बीतते न बीतते वह साधारण साड़ी या सलवार-समीज में आ गई थी। उसी गली से गुजरती। गली वीरान होती तो देसी दारू की बोतलें ठनकाते हुए मेरी खिड़की के पास ठमकती। खिड़की के उस पार अपने कमरे में हवा और रोशनी की सहूलियत के लिहाज से मैं पढ़-लिख रहा होता। कभी-कभी वह देर तक बाहर छिपकिली-सी चिपकौ रहती। कभी मेरा ध्यान भंग करने के लिए बोतल खनकाती या पायल!

जानकर भी मैं अनजान बनता, “कौन...? अरे तुम! कब आई?”

“जब तुम पन्नों में मूड़ी गड़ाए न देखने का ढोंग कर रहे थे। तुम किताब पढ़ते हो, मैं आदमी!”

“पढ़ चुकी हो तो अब जाओ।”

“न जाऊं तो?”

“कब तक?”

“जब तक तुम बता नहीं देते कि का गलती हुई हमसे!”

“मैंने कब कहा कि कोई गलती हुई?”

“झूठ! मेरी ओर देखते तक नहीं। का हम इतना भी नहीं समझते?”

“मैं तुम्हें उसी रूप में देखना चाहता हूँ जिस रूप में पहली बार देखा था दुल्हन के भेष में।”

“साधू-महत्तमा जइसे बोल रहे हो!”

“माने?”

“माने, मुंह में राम, बगल में छुरी। माने ढोंगी।”

“गलत।”

“गलत? चलो भैरों बाबा के थान पे चलकर कसम खा लो तो जानें।”

“कौन भैरों बाबा...?”

“हमारे तो ऊहे एक देवता है, जिनका आसरा है।”

“ना बाबा। मुझे तो इन सबसे दूर ही रखो।”

“तो फिर उस रात क्या कर रहे थे? कह देंगे राजाजी उस दिन की बतिया... हमको सस्ती लड़की समझ रहे थे न?”

“अब से गलती नहीं होगी!”

“न मैं हूँ। सचमुच की!”

“अरे बाप! कहा न! मुझसे गलती हुई। कान पकड़ता हूँ।”

“सिर्फ कान पकड़ने से नहीं होगा। कान पकड़ के उठक-बैठक

करना होगा और एक पौवा भैरों बाबा का परसाद भी।" वह भिलभिला कर हंसी।

"जाती है कि नहीं।" मैंने हड़काया तो वह भाग गई।

और मुनिया के भैरव बाबा!

अचानक ही एक दिन दीदार हो गया उनका।

मैं रामकिंकरजी के साधु पिता के शवदाह से लौट रहा था। रास्ते में कलाली पड़ती थी वहीं...

वह काउंटर के जैकब से झगड़ रही थी। जैकब पूछ रहा था, "का हो मोदियाइन, तुम्हारी तो लगता है, चांदी ही चांदी है इन दिनों।"

मुनिया तिड़क उठी, "अपने काम से काम रखो। लाओ मेरा दस बोटल।"

"आज तो सिर्फ नौ ही मिलेंगे मुनिया रानी!"

"क्यों? बाकी एक कौन ले गया, तेरा जमाई?"

"देख, कल पूरे ग्यारह ले लेना।"

उसने बिल्ली की तरह झगड़ने के लिए अंगड़ाई तोड़ी। झपटने पर आमदा ही थी कि मुझे देखकर शांत पड़ गई, "भैया तुम...?"

"यू ही रामकिंकर के बाबूजी के लिए शमशान घाट आए थे।"

"मू गए साधु जी? चलो अच्छा हुआ।" उसने हाथ झाड़े। मैं उसकी अदा पर हैरान था।

"वो राम-राम जपने वाला साधु बाबा! उसको तो हीवेन, माने जन्नत, माने सरग मिलेगा।" जैकब ने सीने पर क्रॉस बनाया।

"नरक मिलेगा नरक, माने जहन्नुम, माने..."

"हेल!" मैंने उसके नरक और जहन्नुम का जैकब के लिए अनुवाद किया।

"हां वहीं।" मुनिया ने कहा। फिर जैकब को उसकी बात में उलझा कर मुझसे कहा, "रुको भैया, हम भी चलते हैं।" उसने एक छोटी-सी बॉटली अलग से उठा ली, पैसे दिए और पूछा, "पहला धार का है न?"

"अरे हां रे बाबा, पहला धार का पहले ही तेरे वास्ते अलग से रख देता। देख डेपी ठीक से कस के बंद करना। गिरा देगी तो और नहीं है मेरे पास।"

मुनिया ने बॉटली थैली में रखी और चल पड़ी मेरे साथ।

कोलियरी की उस काली धूल में वह बड़ी शान से चल रही थी और मैं ज़मीन में धंसा जा रहा था। रेल लाइन पार कर वह जरा ठमकी, 'दो मिनट! तनी पूजा कर लें।'

झाड़-झंखाड़ के बीच तनिक ऊंचे पर था एक पीपल का पेड़-सिंदूर और सूत लपेटे, छोटा-सा त्रिशूल, छोटा-सा पत्थर जो उसके शिवजी या भैरो बाबा थे। फिर कुछ और पत्थर, सिंदूर से टीके हुए। भैरो बाबा ही नहीं शिवजी, पार्वती, नंदी, भृंगी और पता नहीं कौन-कौन से देवी-देवता। उसने फेंटे से माचिस और धूपकाठी निकाल कर जलाई और पूरे भक्ति-भाव से हाथ जोड़कर पहली धार वाली बॉटली को भैरों बाबा पर धीरे-धीरे उड़ेल दिया, जैसे वह दारू न होकर गंगाजल हो और वह अर्घ्य दे रही हो। उसने शीशी झोले में रख कर एक-एक शिला को प्रणाम किया।

इस दूर तक फैली शमशान भूमि में उसका कोई भैरों मंदिर है, जहां उसके रक्षक देवता रहते हैं, अनुमान भी न था। इन्हीं का दावा किया करती थी रोज-रोज। मैं उसके अद्भुत कापालिक कृत्यों को कौतूहल से देखता रहा। हमारे मुड़ते ही कोई कुत्ता आकर चपड़-चपड़ चाटने लगा। क्या पता, वहां दारू थी, दूध था या खून। उसने कुत्ते को भी प्रणाम किया, शायद उसके भैरों बाबा का वाहन था। एक सर्प अलस भाव से रेंगता हुआ पत्थरों पर से पार हो रहा था। मैंने उसे सावधान

किया, "देखना सांप है।"

उसने सर्प को भी प्रणाम किया, "बड़े भाग से दर्शन हुए भोले बाबा के।"

दूसरे दिन वह खिड़की के उस पार आकर खड़ी हुई तो मैंने पूछा, "तुझे डर नहीं लगा?"

"न।" उसका जवाब था।

दिनोंदिन ढीठ होती गई वह। कई बार ध्यान टूटता तो उसे खिड़की के उस पार खड़ी पाता।

उन्हीं दिनों वह रात के हंगामे वाली घटना घटी।

"मुनिया, तेरा खिड़की पर खड़ा होना ठीक नहीं है।" मैंने एक दिन उसे चेताया।

"नहीं जाती। जो करना हो कर लो। इस गली में कोई भी आ-जा सकता है और जहां चाहे, जब तक चाहे खड़ा रह सकता है।"

"यह तुम्हारे बाप की नहीं, रामकिंकर के बाप की गली है।" मैंने उसे चिढ़ाया।

"रामकिंकर का बाप गया रामजी के पास पानी भरने।"

"मुझे लिखने नहीं देगी?" मैं लाचार हो गया।

"न। पहले यह बताओ का गोंजते रहते हो?"

"इसे तुम गोंजना कहती हो?"

"तो का है?"

"कहानी।"

"कहानी, माने किस्सा-उस्सा..." उसकी आंखों की तितलियां उड़ीं।

"एक तरह से वही समझ लो।"

"गाना-ओना नहीं?"

"नहीं।"

'तो हम पर भी एक ठो कहानी लिख दो ना।'

"क्या लिखूंगा, दारू लाती है, मोहल्ले में बदनाम है।"

वह तनिक ठकराई, पर हार मानना तो जैसे उसने सीखा ही न था। बोली, "हां-हां लिख दो। लिख दो। हियां डरता कौन है? लेकिन..."

उसने "लेकिन" पर बल दिया, "यह भी लिखना कि दारू न लाए तो घर चले कैसे। यह भी लिखना कि वह दारू न लाए तो छोटे भाई को लाना पड़ेगा जो बिगड़ जाएगा। लिखना कि दारू छोड़कर घर का खरच चलाने का कोई उपाय नहीं है। यह भी लिखना कि उसके दारू के दीवाने सभी हैं, मगर सब साधु बनते हैं। भैरों बाबा के दरबार में कभी पूछ-पुछावल हुई तो हम सबका चिट्ठा खोल देंगे।"

"ठीक है लिख दूंगा, अब तू जा।"

'रुको, नाम का रखोगे? बताऊं? 'छिनार!'

मैं अवाक्! खिड़की के पार उसका मुंह देखने लगा। जब तक मैं सहज होता, उसने खिड़की में हाथ डालकर मेरी कलम खींच ली, "अब यह कलम तुम्हें तभी मिलेगी जब हम पर किस्सा... ऊ का नाम, 'कहानी' लिख लो।"

उसकी बोटलों की खनक दूर जाते-जाते धूमिल पड़ गई।

सातवें दिन ड्यूटी से आकर खिड़की पर बैठा ही था कि उसकी काल-बेल माने बोटलों की खनक बज उठी, "देखो सात दिन तुम्हें डिस्टर्ब नहीं किया। अब लाओ मेरी कहानी।"

"अरे बाप! इतन बेरहम तो कोई कर्जखोर महाजन भी नहीं होगा। सुनो..."

“सुन रहे हैं।”

“मुहल्ले वालियों ने सूँघ लिया है।”

“कुछ बोल रही थीं का?”

“हां।”

“का।”

“दिन को रहे भैया, रात को रहे सैया।”

नथुने फड़क उठे उसके, “हम किसके साथ रहते हैं, किसके साथ सोते हैं, किसी के बाप का क्या! कोई पूछने तो नहीं आया कभी, कितने दिन से नहीं खाया, कैसे खरचा चलता है तुम्हारा मुनिया। और ये सतवती माता माई लोग, कभी तो हम पूछने नहीं गए कि क्या करती हो तुम...उहरो उनके भतारों से बोल कर उन्हें न कुटवाया तो हमारा नाम भी मुनिया नहीं।”

“बात का बतगड़ मत बनाओ।”

“काहे नहीं बनाएंगे? किसी का दिया हुआ खाते हैं का! हर मौगी का कच्चा-चिट्ठा जानते हैं, हर मौगी का! कह देना, हमसे पंगा लिया तो उनका धोती खोल के पताका बना देंगे। अभी वे मुनिया को नहीं जानती।”

औरों का तो नहीं, मगर उसने खुद की साड़ी को पताका जरूर बना लिया। एक दिन मिन्नतभरे स्वर में बोली, “तुमरे घर में नहा लें भैया?”

मैं परेशान हो गया, यह तो सरासर उंगली पकड़ते-पकड़ते पहुंचा पकड़ने लगी।

“क्यों तुम्हारा घर क्या हुआ?”

“हुआ तो पूजा हो रहा है न। अपने ही घर का बकरा काटेंगे। हम न देख पाएंगे।”

मैं सोच में पड़ गया। उसने फुसफुसा कर कहा, “भाई को साथ ले आए हैं, किसी को शक न होगा।”

घर उसके हवाले कर घंटेभर बाद लौटा तो देखा, उसने न सिर्फ स्नान कर लिया था बल्कि भीगी साड़ी भी पसार दी थी। आंगन में। बालों को झटकते हुए बड़ी बेफिक्री से बतलाया कि घर में जगह नहीं है, सो यहीं फैला दिया। सूख जाएंगे तो ले लेंगे।

वह चली गई अपने भाई के साथ। साड़ी के परचम-सा लहराता रहा उसका सनसनाता अहसास। मेरी एकाग्रता को यह सनसनाहट छेड़ती रही। किसी भी काम में मन नहीं लग रहा था। जाने के पहले उसकी साड़ी की खूंट में पचास रुपए बांध दिए।

“फाउल! फाउल!” मेरे अंदर से आवाज आई, “क्या सोच कर यह नादानी कर डाली?” उसका कोई माकूल जवाब न था मेरे पास। मेरे लौटने पर रात को साड़ी ले गया उसका भाई।

अगले दिन घर में बिना पूछे ही धड़धड़ाते हुए दाखिल हो गई, अपने आंचल की खूंट से रुपए खोले और मेरी ओर बढ़ा दिए।

“क्या है यह?” मैं अनाड़ी बना रहा।

“तुम्हारे रुपए।”

“नहीं। ये तुम्हारे हैं।”

“हमारे...? तो फिर यह भी बता दो, हम कब आए...या तुम कब आ रहे हो?”

नोट का पंखा झलते हुए वह हंस पड़ी। बड़ी मारक थी उसकी हंसी, जैसे वह मुझे खेला रही हो, “सुनो, कितने ही मर्दों के पाकिट से मैंने पैसे मारे हैं। इतनी सफाई से मारती कि पता ही न चलता, जैसे हजार-पांच सौ के बीच दो-तीन पत्ते निकाल लेती। उन्हें संदेह में डाले रखती कि क्या पता इतने ही रहे हों, या कहीं और खर्च हो गए होंगे या गिर गए होंगे। मुनिया को लेना ही होता तो सबका सब न ले लेती।”



मैं बेवकूफ की तरह सुनता रहा और वह मुझे ज्ञान देती रही, “सुनो, पूरे अच्छे या पूरे खराब को पकड़ना आसान है, पर अच्छे में खराब या खराब में अच्छा मिला दो, कोई न पकड़ पाएगा...सो हम पैसे लेते रहे, लेकिन तुम्हारे ये पैसे...? न, नहीं।”

“क्यों?”

“डायन भी खाती है तो सात घर छोड़कर। अभी तक तुम मेरे भैया ही हो। अभी पिछले साल तक राखी बांधी थी न तुम्हें?”

“रख लो न। तुम्हें रुपयों की जरूरत है।” मैं हकलाया पर नज़रें झुकी रहीं।

“ले लेंगे, मगर..”

“क्या मगर?”

पहले रिश्ता तो साफ़ करो, “भैया कि सैया?” फिर आंचल पसार कर लेंगे। सलाम कर कबूल करेंगे। ताश की तरह नोट को वह फेरती रही। फिर टेबुल पर रख दिया। मेरा ताश का महल भरभरा गया। जितना मैंने समझा था, वह उससे आगे निकली।

अगले कुछ दिन वह नहीं आई। राखी के दिन भी नहीं। यद्यपि उस दिन सुबह से ही पानी बरस रहा था और मैं उसके घर के सामने से गुज़रा भी था। मैंने देखा, उसके आंगन में एक पीतल की तश्तरी पड़ी थी, कोई कुत्ता पानी में भीगते हुए भी कुछ खा रहा था। मुनिया और उसके परिवार के अन्य लोग कहां हैं, कुछ पता नहीं।

रक्षाबंधन के दो दिन बाद गहराती सांझ को सूनी गली में अवतरित हुई, तो भी पानी बरस रहा था, एक टुटते छाने पर पटर-पटर पड़ती बूंदों पर। पलटकर मैंने देखा, “कहां रही इत्ते दिन भैरों बाबा की भैरवी?”

वह कुछ न बोली तो दोबारा पूछा, “इस भरी बरसात में आ कहां से रही हो?”

“तुम्हें इससे का।”

मैंने पलकें ऊपर उठाई, “काट खाने पर क्यों आमदा हो?”

“जानते हो, हमरा बाप कौन है?”

मैं उसका मुंह ताकने लगा, “कौन?”

“रामकिंकर।”

“ऐं।”

“तब माई जवान थी। उससे पैदा हुए हम। दारू पीने अक्सर आता

रामकिंकर, जैसे बहुत सारे पुलिसिए और लोग आते हैं। फिर इधर जब हम सयान हुए, एक दिन नशे में उसने हमारी बांह पकड़ी तो माई ने उसे धिक्कारा, 'एकदम्ये अन्हरा गए हो? अपनी ही बेटी को...?' तो उस दिन हम जान पाए। सो उस दिन उनकी नीयत में खोत देखकर माई ने डंडा उठा लिया। उस दिन तो हम बच गए मगर कब तक? एक दिन माई का डंडा छीन कर उसने माई को धुन डाला और फिर...।"

वह तनिक रुकी। उसके भरे-भरे चेहरे पर बूंदें ढुलक रही थीं; पता नहीं, कितनी बारिश की थी, कितने आंसू।

उसने ओढ़नी से मुंह पोंछा। फिर बोली, "खैर, वह तो जो हुआ, सो हुआ। अभी दो दिन पहले...तुम पूछ रहे थे न कि राखी के दिन भी न दिखी, कहाँ रही? सो बताऊँ। राखी के दिन नहा-धोकर तश्तरी में लड्डू, रोली, अक्षत और राखी रखकर तुमारे पास निकले थे, मगर हमरा किस्मत! बीच में जाने कहाँ से परगट हो गया शिवशंकरा...।"

"ये शिवशंकरा कौन?"

मुनिया ने चारों तरफ़ देखा। गली अब भी सुनसान थी, बूंदें अभी भी बरस रही थीं। बोली, "उसने बांह पकड़कर खींचा। हम बहुत रोके, लड़ गए, मगर वो तगड़ा पड़ा। उस दिन, उस समय माई-बाबू-भैया कोई न था। वेने मेरी बांह एंठ दी और... राखी की तश्तरी उठा कर नीचे फेंक दी। ढनमना गई, कहाँ का पूजा, कहाँ का राखी! लड्डू उसका कुकुर नोच रहा था और ऊ हमको... हम हियाँइ आ रहे थे...।"

अब वह सिसक रही थी, "बांह मरुक गया। दस बोटल दारू तक नहीं उठा पाते अब।"

गली में किसी के आने की आहट हुई।

"तू अभी जा, कल बात करेंगे।"

"कल काहे? किसी का डर लगा है का।" उसने ओढ़नी से चेहरे को फिर पोछा, "हमसे बड़ा पापिन देखा कभी? गुंडों, मवालियों के बीच रहते-रहते अब डर-भय नहीं लगता हमें। कहीं भी, किसी भी आने-जाने में सांप-बिच्छू भी सूँघ कर बगल हो जाते हैं।"

अगले दिन आई तो मैंने पूछा, 'एक बात समझ में नहीं आई मुनिया। जब रामकिंकर ने वह सब किया, तब तो उनके बाप साधु जी जिंदा रहे होंगे। वह तो हमेशा 'सीताराम-सीताराम' जपा करते। उन्होंने कभी रोका-टोका नहीं?"

"वो SSS! उनके सीताराम हमही थे।"

"अरे बाप!"

"माई ही भेजती उनके पास। कहती, भगत हैं, बूढ़ा हैं, पुन ही मिलेगा। पुन मिला भी। ...ये घर! सुनकर अजीब लगता है न कि हमारे और हमारी माई के देह पर खड़ा है यह खपरैल, नहीं तो था का, बन-तुलसी का टाटी और पुआल का छप्पर। जो चाहे कुत्ते की तरह घुस आए। दुरदुराते रहो। इस तरह तीन-तीन पीढ़ियों के रखैल हुए हम।"

वह सधे अंदाज़ में पुरखिन-सी बोल रही थी, "अब भी हमारे लिए रिश्तों का कोई मतलब बचता है का? मोहल्ले को तो तुम जानते हो या तो सीधे-सीधे चकलाघर में बैठ जाएँ या ये लोग मुझे घेर कर बैठा देंगे, जैसे देवी की मूरत बैठाते हैं।" यह कहते हुए जैसे उससे कोई भूल हो गई हो और उसने हाथ को सिर पर लगा कर माफ़ी मांगी।

"तुम्हारा मरद?"

"मरद? उसे तुम मरद कहते हो! मरद तो हमरा दारू है दारू और भैरों बाबा ही हमारे देवी-देवता, माई-बाप! जानते हो, दारू से ही अपने दामाद का परछन किया था माई ने। दारू से ही आचमन। पीकर दिनभर ढनमनाया रहता है- रोगी जैसा पड़ा रहता है। मर भी जाता तो उससे 'मुक्ती' मिल जाता। माने जो हमरा बाप है, हमरा बाप नहीं। जो मरद है, ऊ मरद नहीं। का मजाक किए हैं भगवान हमारे साथ...।"

सहसा ही उसे जैसे सन्निपात चढ़ गया, "आज ई गौधुरिया का बेला में फूसला पाने आए हैं तुमारे पास। मेरे भैया, मेरे सैया! तरवार का धार पर हैं हम। हमें किसी भी तरह बेसवा होने से बचा लो।" वह मेरे दोनों पांवों को जकड़ कर गिड़गिड़ा रही थी। मैं शर्म के मारे गड़ा जा रहा था।

किंकत्तर्व्यविमूढ़!

"हम आग से घिर गए हैं आग से, ई चेहरा देख रहे हैं न, मन करता है, तेजाब डाल लें या खरोच-खरोच के फेंक दें पूरा चेहरा, ताकि कोई देखे भी तो उसको घिन आए। हम जिंदा रहना चाहते हैं पूरा मेहरारू बनकर, पूरा। लेकिन कोई हमको जिंदा रहने देना नहीं चाहता।"

बड़ी मुश्किल से मैंने अपने आपको उसकी जकड़न से मुक्त किया था। ऐसे कई पल आए जब मैं निर्णय लेते-लेते बचा। एक मन कहता, उसे झाड़ू-पोंछा के बहाने रख लूँ, दूसरा मन कहता, "नहीं"।

दोस्तों से पूछा तो कहने लगे, "पागल तो नहीं हो गया तू! वह औरत है, जवान है, सुंदर है। पर उसके साथ उसका एक साया भी है, उसका काला अतीत। तू जितनी जल्दी वहाँ से फूट ले, उतना ही अच्छा, वरना किसी दिन किसी और का बच्चा तेरे मत्थे मढ़ कर चढ़ बैठेगी माँ और बेटी तेरे सीने पर। फिर तू न उगल पाएगा, न निगल पाएगा।"

दिन बीतते गए। मैं कोई निर्णय न ले सका। अंदर ही अंदर मैं उससे बेहद मोहासक्त था, कल्पना में न जाने कहाँ-कहाँ के कुलाबे मिलाता रहता पर व्यवहार में दुविधाग्रस्त। शायद पहले दर्जे का मौकापरस्त और भीरू! वह अकेले-अकेले निबटती रही गली के कुत्तों से।

...और एक दिन सचमुच ही उससे पल्ला छुड़ा कर भाग आया आसनसोल के अपने रेलवे क्वार्टर में। किसी को कार्नाकान ख़बर न हुई। अपने पुराने कस्बे से जब भी मालगाड़ी लेकर गुज़रता, ठीक भैरों बाबा के थान पर मुड़कर ताकता, लगता, वह अब भी खड़ी है अपने भैरों बाबा को दारू की पहली धार का अर्घ्य देते हुए- ठीक उसी अंदाज़ में, जिस अंदाज़ में रामकिंकर के पिता साधुजी शिवजी को जल चढ़ाया करते। लगता, उसने मुड़कर ताका है गुज़रती मालगाड़ी को, "डरपोक कहीं का!"

और आज! फ़ोन पर मैसेज आया, आपकी गुड्स ट्रेन कुलडीही होकर आ रही है। स्टेशन से कुछ पहले एक औरत की लाश पड़ी है। थाने का एक सिपाही उसे लेकर आएगा। आपको अपनी केबिन में उसे ले लेना है।

ट्रेन रुकवा कर मैंने देखा, वहाँ एक भीड़ है, लाश पटरी पर दूर तक छितराई पड़ी थी। चील-कौवे मंडरा रहे थे, कुत्ते मांस के लिए अलग छीना-झपटी मचाए हुए थे। मुंड एक किलोमीटर दूर पर। सच ही कहती थी मुनिया, पुलिस का सिपाही डर के मारे कांप रहा था। मैंने आगे बढ़कर बाल पकड़ कर उठा लिया कटे मुंड को "हमें आप ही जैसे लोग पैदा करते हो आप ही जैसे लोग मारते हो।" मुनिया थी! मुनिया ही थी। भय, आतंक और शोक से लगा मेरी नसें फट जाएंगी। मैंने उसकी मुरझाई आँखों में झाँका।

अचानक पीछे से कोई पच्च-सा थूकता है-"तेरी किस्मत में यही लिखा था। जा छिनार!"

चौंक कर देखा, यह रामकिंकर थे।

वह दिन था और आज का दिन। एक विचित्र तरह की मनोदशा में जीता रहा हूँ मैं। लगता है, उसके केश मेरे हाथ में हैं। कटा मुंड झूल रहा है और मैं अघोरी-सा समांतर पटरियों के बीच चला जा रहा हूँ। चलता ही जा रहा हूँ-नशे की हालत में! क्या मैं उसके प्रेम में था? शायद हाँ, शायद नहीं। क्या लगती थी वह मेरी। पहली धार का नशा!

खेस

मृदुला श्रीवास्तव



संपर्क : फ्लैट नं 2, द्वितीय तल
हिमालय अपार्टमेंट, कसुपटी,
शिमला-171009 (हिमाचल प्रदेश)
मो. 9418539595

“अरी रश्मि! इतनी दूर बंगलौर से तीन दिन का लंबा और उबाऊ सफ़र करके आई है।.....यहां खाट डाल देती हूँ, थोड़ी देर आराम कर ले।” कहते हुए मां छत की सीढ़ियाँ उतरने को हुई ही थी कि बगल में दबाकर लाए उस धिसे, मगर नील लगे खेस को अचानक खाट पर डालते हुए बोली, “ऊ कितनी उमस है। लाइट को भी अभी ही जाना था।ये खेस ले-ले, ओढ़ने के लिए। नहीं तो मच्छर काटेंगे।”

मैं खेस को एकटक निहारे जा रही हूँ। इस चांदनी रात में भी, खरहरी खटिया पर बिफरा वह खेस मुझे बेहद साफ़ दिख रहा है। क्या सचमुच मां मच्छरों से बचने के लिए यह खेस दे गई हैं? मैं गहरी सोच में पड़ गई।

“नहीं मां, प्लीज़ मुझे ले जाने दो न इस खेस को अपने साथ बंगलौर।” उस दिन पहली बार बंगलौर जाने की तैयारी करते समय ट्रंक के तले में दबे इसी खेस को अचानक खींचते हुए मैंने कहा था।

“हट पगली, पुराना खेस ले जाकर क्या अपना मज़ाक उड़वाएंगी होस्टल में?”

“नहीं मां, अब मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ? इसको ओढ़ने के बाद मुझे डर नहीं लगता है। फिर तुम्हीं तो कहती थी कि कुंवारी लड़कियों को.....”।

“हां-हां, कहती थी तब, जब तेरी नौकरी नहीं लगी थी.....और फिर, तू पता नहीं किस डर की बात.....?”

“उसी डर की मां, जो तुम्हें आज तक लगता रहा है, अपनी क्लास वन नौकरी.....।”

“अच्छा-अच्छा ठीक है। ज्यादा मत बोल। अपनी बात कर। अब तो तेरी नौकरी लग गई इतनी अच्छी। अब किस बात का डर?”

नौकरी और डर दोनों बिल्कुल अलग चीज़ें हैं। पता नहीं, मां हमेशा से इन दोनों को जोड़ कर क्यों देखती रही हैं? अब देखो न, डर हमें कमजोर बनाता है और नौकरी मजबूत।

मां मुझे उकताई हुई सी लग रही थी, सो झिड़कते हुए बोली, “एक बार कह दिया न कि नहीं ले जाना है ये खेस। खो गया तो..... एक यही तो निशानी बची है मेरे दफ़्तर की.....।”

इससे पहले कि मां अपनी बात पूरी करती, मैंने गुस्से में उसी क्षण खेस तहाकर पुनः ट्रंक में दबा दिया। मुझे लगा कि मां को मेरा इतनी दूर जाना कम, खेस का ले जाना ज्यादा साल रहा है। मैंने एक झटके में ट्रंक बंद कर दिया।

मैं देख रही हूँ कि मां सड़क के पार बने फ्लैटों की अब तक

खुली एकाध खिड़की और उसमें से अंधेरे को चीरकर बाहर आती पीली रोशनी को निहार रही है। छत की मुंडेर को उसने कस कर दबा रखा है।

“मां!” कहते हुए मैंने उसके कंधों पर हाथ रखा तो वह अचानक कांप गई चूँकि पिछले कई वर्षों से मैंने मां को इसी तरह कई बार असहाय महसूस किया है, सो पूछ बैठी, “मां! डर गई क्या?”

“नहीं री.....डरूंगी क्यों?”देख रही हूँ सामने वाले ब्लॉक में लाइट आ रही है और हमारे ब्लॉक में दोपहर से गायब है....अच्छा, तू लेट जा, मैं फटाफट तेरे लिए खाना बनाती हूँ।”

मैं जानती हूँ मां नौकरी से जुड़ा दुःख पहले भी अक्सर इसी सफ़ाई से छिपाया करती थी। इसलिए आज भी अंधेरे में आंखें चुराती वह छत की सीढ़ियाँ यूँ उतर गई हैं मानो उसने कोई अपराध किया हो, अभी-अभी।

मैं अब बस अपनी इसी पसंदीदा झोल वाली खरहरी खटिया पर लेटने और खेस में अपने को पूरा लपेटकर सोने की तैयारी में हूँ। पूरे छह महीने बाद बस एक हफ़्ते की कैजुअल लीव लेकर मैं बंगलौर से ग्वालियर अपने घर आई हूँ, शायद इसलिए।

घर की याद या फिर कल होने वाली मेरी सगाई ? किस कारण मैं इतनी दूर से खिंची चली आई हूँ, कहना मुश्किल है। फ़िलहाल भड़भड़ करती रेल की पटरियाँ और रिज़र्व कंपार्टमेंट में भी चढ़ आई उस अनारक्षित भीड़ की बहस का स्वर मेरे कानों में गूँज रहा है। इन्हीं सब बातों के रहते दो रात और तीन दिन का सफ़र। उसी थकान से या फिर शायद अपनी नौकरी को लेकर मची दिमागी उठापटक की वजह से, मेरे शरीर का पोर-पोर दुख रहा है।

अब देखो, पता नहीं कितने दिन और कर पाती हूँ मैं यह नौकरी। शादी की तारीख़ तक ही क्या या उसके बाद.....?

अब कुछ दिनों में हमारे वेतनमान संशोधित होने वाले हैं। इस कारण से ? नहीं, इस कारण से नहीं। फिर आखिर कैसे सुधांशु ने मेरी नौकरी से जुड़ी अपनी उस ज़िद को उसके शब्दों में मेरी ज़िद को स्वीकार कर लिया कहीं वह.....?

मां अब तक नीचे पहुंच मोमबत्ती की रोशनी में गरमागरम रोटियाँ सेंकने में लगी हैं लेकिन मुझे ऊपर तक सुनाई पड़ती चकले पर बेलन के चलने की वह आवाज़ जाने क्यों अच्छी नहीं लग रही है। पर फिर भी अपने महिला होस्टल की चारदीवारी और सरकारी नौकरी की भागमभाग से निजात का तो नहीं, अस्थायी राहत का सुख अवश्य महसूस हो रहा है।

क्या सचमुच मैं इस निजात की इच्छुक हूँ ? ये कैसी विवशता

है कि मुझे अपनी इस अधिकारी ग्रेड की नौकरी.....। क्यों छोड़ूँ मैं अपनी नौकरी ? फिर अपनी नौकरी ? फिर सुधांशु भी सरकारी नौकरी में है, दिल्ली में शादी होते ही ट्रांसफर तो हो ही जाएगा।पर नहीं, छोड़नी तो होगी ही। अपने और सुधांशु के लिए। सुधांशु ने अपनी ज़िद के आगे जो विराम लगाया है, शायद उसी के कारण.....। नहीं, माँ की याद भी तो सताती थी। मैंने एक झटक में अपने सारे विचार झटक दिए।

अभी पंद्रह मिनट भी नहीं बीते हैं कि खाने के लिए माँ की गुहार



ऊपर तक आने लगी है। कई बरसों से अपनी ही अकड़ में इतराती इस खटिया को छोड़कर नीचे जाने का मन बिल्कुल नहीं है मेरा। सिर के ठीक ऊपर ढेर सारे तारे टिमटिमा रहे हैं, लेकिन अचानक आता हवा का यह मीठा-मीठा झोंका मानो ठहरी हुई उस उमस को या फिर मुझे झंझोड़ देना चाहता है।

खटिया पर लेटे-लेटे मैंने पूरी छत पर नज़र दौड़ाई। कहीं से आती मिट्टी की भीनी-भीनी सुगंध से मुझे मेरा तनाव कम होता लगा। छत चमक रही है शायद पानी से। माँ ने मेरी खाट डालने से पहले एक बाल्टी पानी का छिड़काव पूरी छत पर किया है। इसलिए मैं यह तय नहीं कर पा रही हूँ कि मिट्टी की यह सोंधी-सोंधी महक छत की मुंडेर पर रखे उन कनस्तरो में लगे पौधों की मिट्टी से आ रही है या फिर लाल ईंटों वाली इस छत से।

पेट में चूहे कूद रहे हैं पर कौन जाए खाना खाने नीचे उतरकर। सोचते हुए मैंने खेसनुमा कवच से अपने को एक बार फिर पूरा ढकना चाहा। पर ये क्या ? मेरा दिमाग़ कस रहा है।

मैं उन दिनों बी.ए. (ऑनर्स) दर्शनशास्त्र प्रथम वर्ष की छात्रा थी। मेरे ही कॉलेज के सुधांशु का बी.एस.सी.- का एक वर्ष पूरा ही कहाँ हुआ था कि दिल्ली के इंजीनियरिंग कॉलेज में उसका दूसरे प्रयास में दाखिला हो गया था। सिविल इंजीनियर बनने से पहले ही सुधांशु मुझे मुझसे चुराकर दिल्ली ले गया था और मैं इसी छत की मुंडेर से उसे जाते हुए देखती रही थी। अपनी इन्हीं आंखों से उसके ओझल होने के

बाद भी। एम.ए. करने के बाद एक वर्ष के भीतर खुली प्रतियोगी परीक्षा उत्तीर्ण कर मेरी भी नौकरी सरकारी महकमे में लग गई थी, लेकिन पोस्टिंग बंगलौर में हुई।

बंगलौर जाने से तीन दिन पहले सुधांशु दफ़्तर से छुट्टी लेकर दिल्ली से आया था, सिर्फ़ मुझसे मिलने। इतनी कमउम्र में इतना अच्छा अवसर। कैरियर बनाने के मौके बार-बार कहाँ.....अपने पैरों पर खड़ा होने का अहसास.....तुम्हें जरूर जाना चाहिए।

नौकरी और वह भी बंगलौर जाकर एक साथ इतने तर्क सुनकर...। मैं सचमुच उस दिन सुधांशु के प्रति श्रद्धा और एक अजीबोगरीब प्रेम मिश्रित भाव से भर गई थी।

“देखो न” वह आगे कह रहा था। “यहाँ तुम्हारे पिताजी तुम्हें सब्ज़ी की दुकान तक अकेले नहीं जाने देते हैं।”

“अब बंगलौर जाने दंगे ?” मैंने शंका व्यक्त की।

“जाने दंगे? अरे, खूब जाने दंगे। ये नौकरी चीज़ ही ऐसी होती है.....तुम चिंता मत करना। मैं हूँ न तुम्हारे साथ। हफ़्ते में दो पत्र न आए तब कहना।”

मेरी आंखों में रुके आंसू देखकर वह बोला, “फिर यहाँ ग्वालियर में अकेले रहकर करोगी भी क्या ? रजनी बुआ की शादी में भी अभी पांच-छः साल तो लग ही जाएंगे।”

सुधांशु उस शाम दिल्ली लौट गया था लेकिन मैंने शेष दिन उससे दूर होने के दुःख में बिताए।

अभी थोड़ी देर पहले ही मैंने अपना दुपट्टा छत के कोने में रखे बड़े से ड्रम में लगे रात की रानी के उस आदमक़द पौधों की टहनियों पर फैला छोड़ा है। सच! शिफॉन का हल्के गुलाबी रंग का यह दुपट्टा मुझे एकबारगी फिर अपने होने का अहसास, इस अंधेरी रात में भी कराने लगा है।

“रश्मि तुझे कितनी बार कहा है छत पर जाना हो तो दुपट्टा लेकर जाया कर।.....शर्म-हया है या नहीं ?और ये खेस ले जा ओढ़कर लेटियो खटिया पर।”

“नहीं माँ मुझे गर्मी लगती है। मुझे नहीं ओढ़ना ये खेस।”

“अरी ले जा। पंद्रह की हो गई पर इतना भी नहीं समझती कि कुंवारी लड़कियों को छत पर ही अपने कमरे तक में ओढ़कर सोना चाहिए।”

दुपट्टा और खेस। सचमुच यौवन की दहलीज़ पर कदम रखते-रखते मैंने पाया था कि माँ अपनी जगह ठीक थी। मैं अक्सर सोचती थी कि एक गुज़ब की आत्मसुरक्षा का अहसास इन दोनों से आखिर कैसे और क्यों होने लगता है ? आज जबकि पिछले सात सालों से मैं अपने घर से सैकड़ों मील दूर एक अनजाने शहर में अकेली होस्टल में रहते हुए नौकरी कर रही हूँ और मुझे बराबर एहसास होता रहा है कि इसी दुपट्टे और खेस का स्थान मेरी इस नौकरी ने ले लिया है तो फिर क्यों अब माँ स्वयं कवच को मुझे छोड़ देने को कहती है ? क्या वह जानती नहीं कि शादी के बाद यही सुरक्षा कवच.....? और पिता ?

सुधांशु की बात ठीक निकली। तैयार तो वे पहले से ही थे। पर काश! मैं उनकी उस अतिशय प्रसन्नता और संतुष्टि का कारण जान पाती।

उस दिन सुबह बंगलौर की ट्रेन पकड़ने से ठीक एक रात पहले माँ-पिता और दादी के बीच कोई अजीबोगरीब विवाद तूल पकड़े था। और मैं ? आंखों ही आंखों में घुटनों के बीच मुंह छिपाकर कुर्सी पर

बैठने, फटी आंखों से उन्हें देखने के अलावा कर भी क्या सकती थी ? मुझे मेरा भविष्य सामने की दीवार पर लटके उस घड़ी के पैंडुलम की भांति डोलता नज़र आ रहा था।

“मुंह क्यों लटका रखा है रश्मि की मां ? अरे भई, जानती नहीं हो क्या एक लड़की एक औरत के नौकरी करने का अर्थ ?”

“हां-हां जानती हूं। जानती हूं तभी तो मना कर रही हूं। बंगलौर जाने को ही नहीं नौकरी करने तक को। कहीं भी, कभी भी।” सूटकेस में मेरे कपड़े तह कर रखती हुई मां पिता के प्रश्न के उत्तर में झटके से बोली थी।

“ये तो नहीं, कि खुद भी समझें और लड़की को भी समझाएं।जब देखो अपना ही रोना.....। क्यों रश्मि ठीक है न बेटी ?” अंतिम वाक्य पिता ने मुझसे कहा तो मैं कह ही क्या सकती थी जो बातें कभी पत्नी के लिए अस्वीकार्य थी वही आज बेटी के लिए? कुछ सोचकर मैं चुप रही और मुंह घुटनों में कसकर दबा दिया।

“नहीं जाने दूंगी मैं लड़की को। सुना नहीं क्या तुमने ? एक तो मेरी अपनी ही जिंदगी की दीमक लगी किताब उस पर ये सबसे ज्यादा गला-कुचला त्रासद पन्ना।मैं उसी पन्ने को पलटकर.....? नहीं चाहती कि उसी पन्ने को पलटकर अपनी ही बेटी को दिखाऊं।” मैंने देखा मां जितनी तेज़ी से मेरे बंगलौर जाने का विरोध कर रही थी उतनी ही तेज़ी से कपड़े तह कर रही थी।

“तुम्हारी जैसी मां मैंने नहीं देखी। तुम्हें उसके कैरियर की ज़रा भी चिंता नहीं।”

“कै.....रि.....य.....र.....। हां....। कैरियर ? कौन-सा कैरियर ? कैसा कैरियर ? क्या परिभाषा है इस कैरियर की ? बता सको तो जानूं।”

मां के स्वर में व्यंग्य था। वह आगे बोली, “मर्दों के लिए एक औरत के कैरियर की परिभाषा अचानक इतनी जल्दी कैसे बदल जाती है।आश्चर्य.....।” मैंने देखा पूरी बात स्पष्ट करने की बजाय मां की आंखों में एक बीभत्स त्रास उस दिन पछाड़े खा रहा था।

अचानक दूसरे कमरे से आता दादी का तीखा स्वर (तीन बजे से नीचे से आती चौकीदार की उस बेदम सीटी से कहीं ज्यादा, मां को ही नहीं, मुझे भी चुभा था उस रात।

“क्यों आज बड़ी चिंता हो रही है बेटी के अकेले रहने की ?..... तब कहाँ गई थी यह चिंता जब दूधमुही लड़की को क्रेच में अकेला छोड़कर जाती थी।” अंगुलियां नचाती दादी सुपारी चबाते हुए बोली।

“क्रेच में न रखती तो क्या करती आपने जो घर में संभालने से मना कर दिया था।”

मां-पिता और दादी में छिड़ी बहस का विषय क्या था, मुझे समझ नहीं आ रहा था। सुबह के चार बजने वाले थे और कुर्सी पर पैर उठाकर बैठे-बैठे मेरे घुटने और पंजे दुखने लगे थे। सुबह मुझे दस बजे की कर्नाटक एक्सप्रेस पकड़नी है, यह बात उस समय वे तीनों ही प्राणी शायद भूल गए थे।

सुधांशु की बुआ की शादी होते ही हमारी शादी भी हो जाएगी, यही सपना संजोए मैं ग्वालियर से प्रस्थान कर गई थी।

काफ़ी देर खेस के साथ खींचातानी करने के बाद मैं अब मानो थम-सी गई हूँ। अभी-अभी अचानक एक परछाई हठात् मेरे सामने उभरने लगी है। मैं जानती हूँ मेरे विचारों में इसे आने से रोकना मुश्किल ही नहीं असंभव भी है।

बुआ.....सुधांशु की बुआ.....रजनी बुआ.....रात के अंधेरे को धिक्कारती.....तीस को पार कर चुकी.....कुंवारी बुआ। रजनी बुआ

अकेली थी.....निपट अकेली। पांच भाइयों वाली इस इकलौती बहन की इससे बेहतर नियति और हो भी क्या सकती थी ? सुधांशु के पिता भाइयों में सबसे बड़े और रजनी बुआ सबसे छोटी। शेष चार भाई अपने-अपने घर उन्हें रखने को तैयार जो नहीं थे। इसलिए मरते क्या न करते, पत्नी के विरोध के बावजूद रजनी बुआ को अपने घर पर और उनकी शादी करने के बोझ को अपने सिर पर रख लिया। रजनी बुआ के जीवन की एक त्रासदी यह भी रही कि एक तो वे ज्यादा पढ़-लिख नहीं पाईं, उस पर भाई-भाभी के टूटते संबंधों ने उन्हें ऐसा तोड़ा कि अच्छी-खासी स्कूल की नौकरी को नकार कर भविष्य में कभी नौकरी न करने की ठान ली।

“नौकरी..... नौकरी..... नौकरी.....। क्या बिना नौकरी के लड़कियां जी नहीं सकतीं ? और फिर भैया देख नहीं रही हूँ क्या रोज़ इसी घर में कि नौकरी और तरक्की का क्रेज़ ख़ासकर औरत को कितना तोड़ देता है? खोखली हो जाती है वह बिल्कुल। आंखें मूंदकर मर्दों के साथ लगाई गई तरक्की की इस दौड़ में रिटायर होने तक।” रजनी बुआ का इशारा चुसे आम सरीखी सुधांशु की मम्मी की तरफ़ था।

“वह सब तो ठीक है रजनी! लेकिन तेरी यही जिद रही तो.....।”

“तो क्या होगा? शादी नहीं होगी न मेरी? न हो। मुझे नहीं करनी है शादी और न ही करनी है नौकरी।” बोलते-बोलते रजनी बुआ थक गई थी। शायद इसलिए या फिर भाई के लटके मुंह को देखकर बोली, धीमे से, “अगर बोझ हूँ आप पर तो मुझे.....नारी निकेतन.....।”

सुधांशु की इसी बुआ की शादी होते-होते छह साल लग गए थे। कुछ तो उनका रंग-रूप और कुछ सुधांशु की मम्मी का अचानक एक संक्रामक बीमारी से ग्रस्त होना। बहन की शादी में खर्च की जाने वाली अब तक सहेजी जमापूजी को, पति-पत्नी के इलाज में खर्च न करता तो क्या करता ? और पत्नी का बैंक-बैलेंस.....? वह अगर खाली न भी होता तो कौन-सा वे उसे अपनी ननद की शादी में खर्च करने को दे देती ?

खैर, सिर झुकाए, ट्रे उठाए, शरमाते हुए पड़ोसियों से मांग कर लाए गए सामान से सुसज्जित उस विशेष कमरे में पहुंचने से पहले ही उठकर जाते लड़के वाले। दरवाज़े की आड़ से उन्हें जाते देखने की रजनी बुआ को आदत पड़ गई थी। वही लड़के वाले, जो भाई द्वारा बताए गए उस हल्के-फुल्के से एस्टिमेट को सुनकर एक झटके में.....। शादी होती भी तो कैसे ? पर हो गई।

आज से ठीक छह महीने पहले सुधांशु के विशेष आग्रह पर इन्हीं रजनी बुआ की शादी पर मैं बंगलौर से ग्वालियर आई थी। फिर एक बार सुधांशु के आग्रह पर वहीं उसी ढलानदार प्राचीर के पीछे हम पहुंच गए थे। ग्वालियर के किले की वही दीवार जिसके पीछे अक्सर कॉलेज के दिनों में हम घंटों बैठा करते थे। उस दिन भी हम घंटों उसी दीवार पर अपने-अपने नाम उकेरते रहे थे। फिर अचानक पता नहीं सुधांशु को क्या हुआ जो उसके रोषभरे कथनों से वह किला तक सहम गया। फिर भी मैंने पूछा था, “तो क्या तुम्हारी मम्मी ने तुम्हें भी.....?”

“हां रश्मि, मुझे भी।अपने कैरियर को उन्होंने नेशनल हाइवे और मुझे उस हाइवे पर पड़े रोड़े से अधिक कहां समझा था ?.... कैरियर की इसी भूख ने.....।”

उस दिन एक दस साल के मासूम बच्चे की पीड़ा बयान करते-करते सुधांशु अपनी जिद से जाने-अनजाने ही सही, मुझे पीड़ित अवश्य कर गया था।

वह तब दस साल का था। डैडी और बुआ को छोड़ने के बाद, कंपनी से मिली कोठी में उसके साथ उसकी मम्मी को रहते अभी साल

ही बीता था कि रात-रातभर चलने वाली कंपनी की पार्टियां, आए दिन घर में ही होने वाली मीटिंग्स, डैडी की तरह उसे भी सालने लगी। फिर एक दिन वह पूछ ही बैठा, “मम्मी आप दफ्तर क्यों जाती हैं ? नौकरी छोड़ क्यों नहीं देती.....?” दो प्रश्नों के उत्तर में आंटी की तान की तरह मिले एक साथ कई धप्पड़, उसके लिए कोई नई बात कहां थी ? उसकी मम्मी अपने वीभत्स क्रोध का प्रदर्शन अक्सर इसी तरह करती थी। “तेरे बाप की क्लर्क से गुजारा चल सकता तो मैं नौकरी करती ही क्यों ? तब तो ऐसी बीवी चाहिए थी जो पति के साथ कंधों से कंधा मिलाकर घर का खर्चा बांटे।” मम्मी चीखते हुए बोली थी। “पहले मेरी नौकरी की जरूरत घर में बैठी तेरी उस काली-कलूटी रजनी बुआ की शादी के लिए रुपए जोड़ने के लिए थी। अब जब मैं कंपनी में डिप्टी मैनेजर बनने जा रही थी तो तेरे इसी बाप को मेरी नौकरी खटकने लगी ? क्यों करती मैं अपनी कमाई से तेरी उस बुआ की शादी ?” मम्मी उस दिन रुकती नहीं लग रही थी। “नहीं छोड़ी थी ये नौकरी मैंने तेरे डैडी के कहने से, और न छोड़ूंगी अब तेरे कहने से। पहले.....यहां मत झांको, वहां मत खड़ी रहो और बाद में.....मैनेजर ने अपने घर अपनी बेटी को पढ़ाने के लिए बुलाया है तो जाती क्यों नहीं हो ?क्या नाम दिया जाए आदमी की इस फितरत को ? तू ही मुझे बता ?” मैं दस साल का बच्चा उन्हें क्या जवाब देता जब उनके पास स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर नहीं था।

सुधांशु डीलेपन से कह रहा था, “और फिर मम्मी का दो टूक निर्णय।” वह एकाएक तेज बोला तो मैं सहम गई।

“और सुन अगर तुझे भी मेरा नौकरी करना खटकता है तो तुझे दूर के किसी बोर्डिंग स्कूल में भेज देती हूं।.....जैसा बाप, वैसा बेटा.....।”

“जानती हो रश्मि!” कहते हुए सुधांशु ने कंधों से पकड़ मुझे झंझोड़ डाला। मैं उसका हाथ हटाना चाहती थी पर मैं उस समय उसके चेहरे के भावों में छिपे संकेत को पढ़ते हुए चुप रही।

वह बोला, “मम्मी ने फिर सचमुच एक महीने के भीतर देहरादून जाकर मेरे दाखिले का इंतजाम कर दिया था। देहरादून से लौटते ही मेरा सामान पैक होना शुरू हो गया। और उसी दिन.....उस चार कमरों वाली सुसज्जित कोठी में मैंने अपनी इसी मम्मी को बेहद प्रसन्न और संतुष्ट महसूस किया था, बूढ़े नौकर के साथ शिवपुरी से देहरादून के लिए रवाना होते समय।” इतना कहकर सुधांशु ने एक लंबी चुप्पी साध ली तो मैं फिर डर गई। मुझे लगा सुधांशु की मम्मी की तरह वह भी कोई वीभत्स निर्णय मुझे सुनाने वाला है।

“रश्मि, मुझे गुलत मत समझना।” मेरा अंदाज सही निकला। “मैं तुम्हें अंधेरे में नहीं रखना चाहता।.....शादी के बाद तुम्हें नौकरी छोड़ने को कहूँ, इससे अच्छा है कि शादी से पहले ही तुम नौकरी छोड़ दो। रजनी बुआ कल अपनी ससुराल चली गई अब हमारी शादी भी छः-सात महीने में.....। तब तक तुम नौकरी छोड़ने के लिए अपने को मैटली प्रिपेयर.....।” “नौकरी छोड़ दो। इतना आसान होता है क्या नौकरी छोड़ना ? तुम क्यों नहीं छोड़ देते नौकरी ? तुम घर बैठना मैं घर.....।” मैंने असंतोष हो कहा।

“मजाक मत करो, मैं सीरियसली.....।”

“आई एम आल्सो वैरी सीरियस.....तुम समझते क्यों नहीं हो। शादी होते ही एक-दो महीने के भीतर मेरा ट्रांसफर दिल्ली हो जाएगा। तबादले के लिए रीप्रैजेंटेशन मैं पहले से ही दे दूंगी। शादी के बाद एक महीने की छुट्टी लेकर दिल्ली आ जाऊंगी। फिर सीधे वहीं से ड्यूटी ज्वाइन कर लूंगी। मुझे समझ नहीं आता दिक्कत कहां है ?” मैंने सुधांशु को एक ही सांस में समझाने की कोशिश की।

“हद है इतना सब जान लेने के बाद भी तुम दिल्ली और बंगलौर

को मुद्दा बना रही हो।”

“तुम्हारी मम्मी की वजह से मैं अपनी नौकरी की बलि.....।”

“तो क्या नौकरी मुझ से ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई तुम्हारे लिए। सीधे-सीधे क्यों नहीं कहती कि नौकरी का चस्का लग गया है तुम्हें।”

“और फिर रश्मि.....” वह आगे बोला, “क्या रखा है इस कैरियर में। पति का कैरियर ही दरअसल पत्नी का कैरियर होता है। घर-गृहस्थी की देखभाल.....बच्चों की परवरिश.....अब अपनी मां को ही देख लो।”

“चुप करो। मां की बात मेरे सामने मत करो।” अचानक उस पर मैं टूट पड़ने को हुई।

उसी दीवार के पास ऊंचा-सा एक रेत का ढेर लगा था। उसी में से मुट्ठीभर रेत को उठाकर सुधांशु के मुंह के सामने कर मैं बोली, “सच बताओ, सुधांशु मैं क्या अब तक इस नौकरी को रेत समझ कर अपनी मुट्ठी में दबाए थी ? अगर ऐसा था तो काश! तुम मुझे यह समझा देते कि एक न एक दिन इसे मेरी मुट्ठी से यूँ खिसक जाना है।” मुट्ठी में से रेत को धीमे-धीमे गिराकर दिखाते हुए मैंने उससे कहा तो उसने मुंह घुमा लिया। मैं कुढ़ कर रह गई। इससे पहले कि वह कुछ और कहता मैंने अचानक एक झटके में एक बार फिर मुट्ठी भर रेत उठाई और उसे गिरने से पहले ही अपने दुपट्टे के किनारे में रख कर दो-तीन गांठ बांध ली।

“ये देखो, मुट्ठीभर रेत नहीं, पूरा रेत का पहाड़ मेरे कब्जे में है।”

“पागल हो गई हो क्या तुम ?” अबकी बार वह बिना बोले न रह सका।

“शायद नहीं। ये रेत नहीं, मेरा कैरियर है जिसे तुमने रेत से ज्यादा कभी कुछ नहीं समझा।” मैंने गुस्से में अपनी मुट्ठी भींचते हुए कहा। उस दिन से पहले मुझे लगता था कि मुझसे दूर रहने का दुःख शायद सुधांशु को साल रहा था। शायद इसीलिए उसके लिए मेरी नौकरी और कैरियर की परिभाषा इन सात वर्षों में बिल्कुल उलट गई है। पर दरअसल वह बदली नहीं है। युगों-युगों से वही थी जिसकी व्याख्या सुधांशु ने थोड़ी देर पहले की थी। दृष्टि और सोच वही.....परिभाषा बदलना संभव है क्या ? सोचते-सोचते मैं बेहद बोझिल कदमों से घर लौट आई थी। वापस बंगलौर जाने के लिए। रजनी बुआ की शादी होने की खुशी तो कब की हवा हो चुकी थी।

खाट पर लेटे-लेटे मेरे कानों में मां के कहे शब्द गूँजने लगे हैं। मदों के लिए औरत के कैरियर का अर्थ तेरह साल की उम्र में सुने गए उन शब्दों का अर्थ मैं उस दिन जान पाई थी।

मैं परेशान हो रही हूँ। ये खरहरी खाट मुझे सचमुच खरहरी लगने लगी है। पैरों पर पड़े खेस को खिसका कर मैं धीरे से उठकर मुंडेर तक जाती हूँ। चौकीदार की सीटी और डंडे की ठक्-ठक् रुक क्यों गई है ? जानती हूँ, ये तो बारह से तीन तक की सीटी बजाकर यहीं-कहीं किसी मकान के चबूतरे पर सो जाएगा। लेकिन मैं.....? मैं मुंडेर से नीचे झांक रही हूँ। दूर-दूर तक कहीं कोई नहीं। अंधेरा भी मानो सुस्ता रहा है, हमारे गेट के सामने बने चबूतरे पर बैठकर बीड़ी फूंक रहे चौकीदार की तरह। अचानक आई मेरी खांसी को सुन उसने सिर उठाया। मैंने सिर पीछे कर लिया है। तीन बजने को हैं तभी यह बीड़ी फूंक कर सोने की तैयारी में है। सोचते-सोचते मैं पुनः अपनी उसी झाल वाली खटिया पर लुढ़क गई हूँ। खेस से अपने को पूरा ढकने के एक और प्रयास के साथ ही।

दस मिनट भी नहीं बीते हैं कि मां एक बार फिर मेरे मस्तिष्क पर हावी होने लगी है। “नौकरी.....यह नौकरी.....लिपिस्टिक-पाउडर

खरीदने या ब्यूटी पार्लर जाने के लिए नहीं करती हूँ मैं ?”

मैं जानती हूँ मां ने शादी के बाद के उन छह वर्षों में पिता के अनेक जायज़ तो नहीं, हाँ, कई नाजायज़ आरोपों को अवश्य सहन किया था। शायद इसीलिए बेबसी की उन लकीरों को मां के चेहरे पर मैंने कई बार उभरते देखा।

“समाज में अपनी कुछ पहचान बना सकूँ इसीलिए करती हूँ मैं नौकरी। इससे मेरा आत्मविश्वास.....।” “दफ़्तर में मर्दों के साथ हंसी-ठट्ठा करने को तुम आत्म-विश्वास पैदा करना कहती हो ?”

“आप भूलते हैं अपने केबिन से निकलकर मैं कभी-कभार जिन क्लर्कों के साथ बोलती-चालती हूँ, हाल-चाल पूछती हूँ, वे सभी कल मेरे ही कुलीम्स थे.....फिर आप भी वहाँ बैठे होते हैं। आप मेरी आदत अच्छी तरह जानते हैं। जानते हैं कि प्रत्येक पुरुष से अपनी सीमा और मर्यादा में रहकर बात करती हूँ मैं। फिर भी आप इतना घटिया आरोप.....।” मां के बोलने में उस दिन बहुत तेज़ी थी।

“भूल गए क्या कि इसी गुण के कारण.....।”

“वह मेरी भूल थी। मैं तुमसे ज्यादा बहस अब नहीं करना चाहता। यह रहा इस्तीफ़ा मेरा लिखा हुआ तुम्हारी तरफ़ से।.....और ये रहा पेन साइन करो।”

“क्यों कर दो साइन ? ये कौन सा तरीका है नौकरी छुड़वाने का ? और फिर जरूर कर देती साइन अगर नहीं जानती कि यह तुम नहीं बल्कि तुम्हारे अंदर का हारा हुआ पुरुष बोल रहा है।” कहते हुए मां ने पेन उठाकर उसी क्षण ड्रेसिंग के शीशे पर दे मारा था। मां की इस प्रतिक्रिया से मुझे उस समय बेहद राहत मिली, लेकिन पिता तिलमिला कर रह गए थे।

विवाद अभी थमा कहाँ था ?

अपने जीवन के तेरहवें बसंत में मैं इतना तो जानती ही थी कि शादी से पहले मां-पिताजी एक ही दफ़्तर के एक ही अनुभाग में स्टेनोग्राफर थे। पिता के ही निवेदन पर उनसे प्रेम विवाह कर चुकी मेरी मां दस साल के भीतर उन्हीं विभागीय परीक्षाओं को जिन्हें पिता कभी पास नहीं कर पाए थे, एक ही बार में पास करती चली गई। अच्छी सी. आर. के बूते पर सहायक निदेशक के पद पर पहुँच चुकी मेरी मां को न चाहते हुए भी पिता को एक बार अपने केबिन में डिप्टेशन के लिए बुलवाना पड़ा था। पिता की ग्रंथियाँ फूट-फूट पड़ना चाहती थीं। सो उस दिन पिताजी को मौका मिल गया था। इसमें मां की क्या और कहाँ ग़लती थी, यह बात आज तक भी न मां समझ पाई है और न मैं।

“औरत होने का फ़ायदा उठाया है तुमने ? सच-सच बताओ किस-किस अधिकारी का बिस्तर.....।” पिताजी मां से अक्सर कहते तो मां खून का घूंट पीकर रह जाती। उस दिन मैंने देखा सामने के कमरे में तख़्त पर बैठी दादी माला जपते हुए सारी बातें सुन रही थीं। पिताजी बोलते थे तो वे मुस्कराती थीं। मां बोलती तो उनकी त्योंरियाँ चढ़ जाती थीं।

“राम-राम, शिव-शिव, जै शंभु.....देखो तो सही जीभ कैसी कतरनी सी चलती है पति के सामने। एक हम भी तो थे, पति शराब पीकर आए, मारे-पीटे पर कभी चूँ तक नहीं की। इतना प्यार से खाना बनाकर खिलाती थी कि बस पूछो मत.....राम-राम, शिव-शिव, जै शंभु।” अंतिम दो वाक्य दादी ने इतने धीरे से कहे कि मैं उस दिन हंसे बिना न रह सकी थी।

“ऐ छोकरी! चुप कर। जैसी मांवैसी बेटी।” खीझकर दादी माला को तकिए के नीचे रख मुँह फेर लेट गई तो मैं और खिलखिला पड़ी।

कहना मुश्किल है कि मां ने इन परिस्थितियों में कैसे दो साल निकाले होंगे। चूँकि पिता के आरोपों के बीच मां की नौकरी चल रही थी। मेरे हाई स्कूल तक आते-आते विवाद और गहराता चला गया था।

उस दिन पिता छुट्टी पर थे शायद मुझे पढ़ाने के लिए। दसवीं कक्षा की अंतिम परीक्षा की तैयारी में मैं जुटी थी। मां के दफ़्तर से आने की प्रतीक्षा थी तभी दरवाज़ा खुला हुआ था। पिता वहीं दीवान पर लेटे हुए भी जाग रहे थे। मां आ गई थी। सीधे हाथ-मुँह धो रसोई में गई। चाय लेकर आई-रोज़ ही बनाती थी, दो घंटे पहले उसी के दफ़्तर से घर पहुँच चुके पति के लिए।

दीवान पर मां का लाया गिफ़्ट, अब तक मैंने भागकर खोल दिया था।

“किसने दिया है ये?” पिता चिल्लाए।

“विजय ने।”

“क्यों ?”

“तुम खुद सोचो.....तुम्हारा दोस्त है। तम्हें इतना तो पता होना ही चाहिए।”

“मेरी ही आंखों के सामने अब ये सब भी.....ये खेसफेंक दो इस खेस को.....जला दूंगा मैं इसको।” पिता ने पहले से भी ज्यादा चिल्लाते हुए, खेस को डाइनिंग टेबल के नीचे फेंक दिया।

“तुम्हारी ग्रंथियाँ आज फिर ऐंठने लगी हैं। चलो बता ही देती हूँ कल हमारी शादी की सोलहवीं वर्षगांठ है। तुम आज छुट्टी पर थे तो विजय ने दफ़्तर से बाहर निकलते हुए मुझे पकड़ा दिया था।

“ये भी खूब याद दिलाया तुमने.....तो फिर इसी खुशी में ही सही इस इस्तीफ़े पर साइन कर दो।” एक नया इस्तीफ़ा एक बार फिर उनके कुर्ते की जेब से बाहर आ गया था।

“फिर वही ज़िद.....वही हरकत.....तुम मैंटल केस हो रहे हो।”

“हां-हां मैंटल केस हो रहा हूँ, इसलिए कह रहा हूँ इस पर साइन कर दो वरना.....।”

“वरना क्या ?” मां कहते अचानक डर गई मानो जानती हो पिता अब उनकी किसी दुखती रग पर हाथ रखेंगे।

“कल से तुम्हारा दफ़्तर जाना बंद।.....वरना कल ही अपने मायके निकल लो सुबह की पहली गाड़ी से, अकेली।”

मां आगे कुछ कहने की बजाय मुझे आंखें फाड़े देख रही थी। जैसे जानती हो कि एक न एक दिन यह होना ही था। वह तटस्थ भाव से सूनी आंखें लिए रसोईघर में चली गई और सब्जी काटने लगी। माना कुछ हुआ ही न हो।

सुबह होते-होते मैं जान गई थी कि पिता से प्रेम विवाह कर अपने मायके से बरसों पहले नाता तोड़ चुकी मेरी मां के लिए मुझे छोड़कर ही नहीं, अकेले भी वहाँ जाना असंभव था।

हर रात शराबी पति से मार खाकर भी, अगली दोपहर गीत गुनगुनाती, अचार, बड़ियाँ, पापड़ सुखाने वाली अपनी उस दादी को भी मैंने पिता की पीठ थपथपाते हुए देखा था। अगली सुबह, ठीक नौ बजे। मैं अपना दुख किसे बताती इसलिए मैंने अपने स्कूल से छुट्टी कर ली थी, मां की जगह उसी खेस में दुबककर रौने के लिए। पर मां कभी नहीं रोती थी। दुःख व्यक्त करने का उसका शायद यही तरीका था।

मां का इस्तीफ़ा पिता के दफ़्तर पहुँचते ही उपनिदेशक की मेज़ से सरकता हुआ निदेशक महोदय के कमरे में पहुँच स्वीकृत होने में

ज्यादा समय नहीं लगा। सहायक निदेशक का इस्तीफा.....अपने उसी स्टेनोग्राफर की बीवी का इस्तीफा। सारा कार्यालय हैरान ही नहीं परेशान भी। लेकिन पिता.....? खुशी में भी औंधे हुए जा रहे थे। आधे दिन की छुट्टी लेकर घर आ गए। मिठाई का डिब्बा, सजाने के लिए फूल, मां और दादी के लिए साड़ियां और मेरे लिए लॉग स्कर्ट के पैकेट से उनके दोनों हाथ रुके हुए थे, वही हाथ जो मां के लिए इस्तीफा लिखते-लिखते थक कर भी कभी नहीं थके थे पर मां की नौकरी छूटते ही अपने को बेहद हल्का महसूस कर रहे थे। स्वेटर बुनती पत्नी उन्हें बेहद अच्छी लगी और उन्होंने उसे आते ही चूमा तभी मैं जुगुप्सा से भर गई। यह ठीक है कि स्कूल से थकी-हारी घर लौटने पर मैं भी मां को जब घर में ही देखती तो खिल उठती थी लेकिन फिर इसी छत पर अचार, बड़ियां, पापड़ सुखाते, गुनगुनाते, मुस्कराते जब-जब मेरी मां मुझे मेरी दादी जैसी दिखती तब-तब मैं उनके प्रति एक वितृष्णा से भर जाती। दादी का मन अब पूजा में ज्यादा क्यों लगने लगा है और मां की पूरी लट एक महीने के भीतर सफेद कैसे हो गई, सत्रहवीं क्लास तक पहुंचते-पहुंचते, मैंने इसका कारण अपनी मनोविज्ञान की पुस्तकों से जान लिया था।

साढ़े तीन बजने को है। चौकीदार की सीटी आधे घंटे से सुनाई नहीं दे रही है। मैं एक बार फिर हैरान हूं। खेस ढकने को ही नहीं आ रहा फिर सिर ढकती हूं तो पंजा खुल जाता है। पीठ ढकती हूं तो छाती। सो खेस को कभी इस पैर से उधर खींचती हूं तो कभी उस पैर से इधर। समझ नहीं आ रहा क्या करूं ?

जब से मेरी नौकरी लगी है तब से हर कोई अपने हिसाब से मेरे बारे में सोचता है। पता नहीं मैं इस खेस से अपने को ढक पाऊंगी या नहीं। सोचते-सोचते मेरा दिमाग एक बार फिर भारी होने लगा है।

पिछले सात सालों से इस महिला होस्टल में रहते हुए हर हफ्ते नहीं, बल्कि हफ्ते में दो बार सुधांशु के पत्र नियमित आते रहे। रजनी बुआ की शादी के बाद भी। पुरुष मित्रों से मिलने वाली लिफ्ट और गिफ्ट से जुड़ी हिदायतों के अलावा इसके साथ मत जाना, उसके साथ मत खाना, ज्यादा हंसना मत, रिजर्व रहना, के अलावा उन पत्रों में मेरे लिए प्यार के नाम पर बस 'मेरी प्रिया' लिखा रहता। और शायद उसी शब्द को बार-बार पढ़ने के लिए मैं हर बार बेसब्री से उसके पत्र का इंतजार भी करती थी।

पत्राचार के माध्यम से चलती रही हमारी मित्रता के इन सात वर्षों में हम कितना एक-दूसरे को जान पाए हैं, यह बता पाना कठिन है। हां फोन पर लंबी-लंबी बातचीत और इस दौरान बात-बेबात गुस्सा होना, अपनी खुददारी का दंभ और घूम-फिर कर नौकरी छोड़ने की बात याद दिलाना वह आज तक भी कहाँ भूला है ?

"तू उसके बारे में सोचना क्यों नहीं छोड़ देती ?" मेरी रूममेट अक्सर पूछती।

"छोड़ देती अगर छोड़ देना सचमुच इतना आसान होता।" मैं कहती और मुस्करा कर रह जाती।

रजनी बुआ का हाल अक्सर मां पत्र में लिखती थी लेकिन पिछली बार जब उन्होंने लिखा कि। मैं अक्सर हैरान भी हो जाती कि पीलिया के मरीज जैसी फीकी पड़ चुकी रजनी बुआ के चेहरे की रंगत क्योंकर सुधांशु की आंखों में नहीं उतरती ? वही रंगत जो उस दिन उनके दहेज के उस नए बक्से की जाती चमक के आगे बेहद बौनी लग रही थी और यह वही बक्सा था जिसे कहार अपने सिर पर लादे, उछल-उछल कर कदम धरता सुधांशु के पिता के पुश्तैनी आंगन तक बिना पूछे चला आया था। पूछता क्यों, रजनी बुआ जो उसके पीछे चल रही थी।

रजनी बुआ विधवा हो गई थी। शादी के एक महीने के भीतर पति को काल सर्प ने ऐसा काटा कि देखते ही देखते रजनी बुआ की लाल सितारों वाली चुनरी पति के मुंह से निकलते झाग सरीखी सफेद हो गई थी। शादी का सामान तो कुछ था ही नहीं। ले-देकर एक बक्सा, बिल्कुल नया चमचमाता उसी के समेत ससुराल से बाहर कर दी गई रजनी बुआ, पिता जैसे अपने भाई के घर न लौटती, तो क्या करती ?

भाभी की आंखें कनखियों से भाई-बहन दोनों को एक साथ घूर रही थीं। समझदार को इशारा ही काफी था। और इसी समझदारी के तहत पांच भाइयों वाली उस बहन के लिए तीन घंटे के भीतर एक काले घोड़े वाला गलीज तांगा आंगन के दरवाजे पर खड़ा हिनहिना रहा था।

बुआ को लादे, उस गलीज तांगे को उस गोधूलि बेला में सरपट भागते, भले ही किसी ने न देखा हो, पर अचानक रिरियाती, धिक्काती उस काली कुतिया को भागते तांगे के नीचे आते-आते बचकर कू-कू करते हुए ज्यादा और रजनी बुआ को उससे कम एकाध आदमी ने ही मुड़कर देखा ज़रूर था। सामने वाली सड़क से दाईं ओर मुड़ता वह रास्ता सीधे ग्वालियर के मशहूर नारी निकेतन तक जाता है, गलीज तांगे वाला भी अच्छी तरह जानता था।

छत का यह सन्नाटा, दीवार पर चलती छिपकली, भुगों की यह भुनभुन, रात की रानी के उस आदमकद पौधों की टहनियों पर टंगा यह जाला और उसमें फंसी एक मक्खी। सब कुछ जैसे धीरे-धीरे साफ हो रहा है। रजनी बुआ, सुधांशु की मम्मी, मेरे माता-पिताजी और माला जपती मेरी दादी। आज मुझे सब एक जैसे क्यों लग रहे हैं ? एक साथ मेरी ओर दौड़ते हुए, लदे हुए से, अलग-अलग परिभाषा की तख्ती धामे हुए ? आज से पहले मैंने कभी अपने को इतना विचलित महसूस नहीं किया है। कल दोपहर जब सुधांशु मुझे स्टेशन पर लेने आया था तो उसने कान में धीरे से कहा, "मैंने तुम्हारी ज़िद मान ली है शादी के बाद नया मेहमान आने तक तुम नौकरी कर लेना....." मेरी ज़िद.....? शादी के बाद.....आने तक.....नौकरी.....। एक और नई परिभाषा ? मेरा सिर झनझनाता रहा था काफी देर।

मेरे सामने ठीक वही मुंडेर है जिसे रात में मां ने कसकर दबा रखा था। मुझे लगा मां की जगह अब वहां रजनी बुआ नहीं, शायद मैं ही खड़ी हूं। मुंडेर से सिर मार-मार कर माथा फोड़ चुकी रजनी बुआ। मुझे लगा सामने वाली कॉलोनी के मकानों की बंद खिड़कियों को मूक नेत्रों से ताकते-ताकते वे अचानक मुंडेर से नीचे कूद गईं। कहीं ये मैं.....बिना भाइयों वाली, आकाश की ओर देखती हूं। चांद बड़ी तेजी से खिसक रहा है। माना अपना बोरिया-बिस्तर समेट कर भागना चाहता है। सूरज के आने का डर तो कहीं उसे विचलित नहीं कर रहा? देखो तो सही ये तारे! चार बजने को हैं पर अभी तक बिफरे पड़े हैं। अचानक मैं डर गई हूं। वे तारे मुझे अपने ऊपर टूटते से लग रहे हैं। मैंने तेजी से करवट लेनी चाही है। अरे ये क्या ? मेरा ये खेस ? नीचे गिरा पड़ा है। हद है। मैंने लेटे-लेटे ही लपककर खेस को एक झटके में उठा कर पूरा ओढ़ लिया है।

सोच रही हूं दस बजे से टिकट की लाइन में लगना होगा। वापसी का आरक्षण करवाने के लिए अलग स्लिप भरो। पता नहीं इतनी जल्दी मिलेगा भी या नहीं। आधा घंटा स्टेशन जाने का, एक घंटा तैयार होने का भी रख लो। अब फिर वही खड़-खड़ करती भड़भड़ाती रेल की पटरियां। किसी से सीट मांगना मेरे लिए मुश्किल है। मां को सगाई की तैयारियां करने से रोकने के लिए मैं मुस्कराती हुई तेजी से सीढ़ियां उतर रही हूं। □

स्मरण संगीत संरक्षकों का

पं. विजयशंकर मिश्र



संपर्क : 'शंकर', 705 डी/21 सी, वार्ड
सं. 3, महारौली, नई दिल्ली-110030
मो. 9810517945

नौ मार्च की प्रातः जब सूर्य उदय होने वाला था, सूफी संगीत की पंजाबी धारा का एक दैदीप्यमान सितारा जिसका नाम भी उसके संगीत की तरह ही प्यारा था उस्ताद प्यारेलाल वडाली सदा-सदा के लिए डूब गया। वडाली बंधु के नाम से संगीत के विश्व परिदृश्य पर जगमगा रहे उस्ताद पूरणचंद वडाली और उस्ताद प्यारेलाल वडाली में से प्यारेलाल वडाली छोटे भाई थे। जिन्हें दिल का दौरा पड़ने पर 8 अप्रैल को अमृतसर के एक अस्पताल में भर्ती कराया गया था जहां अगली सुबह 75 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया।

केंद्रीय संगीत नाटक अकादेमी की सचिव विदुषी ऋता स्वामी चौधरी बताती हैं कि वे अपने काम के प्रति पूरी तरह से समर्पित थे। संभवतः उनका अंतिम कार्यक्रम अकादेमी ने ही कटरा (जम्मू) में आयोजित किया था। तबीयत तब भी उनकी बहुत अच्छी नहीं थी। वे चिकित्सकों की गहन देख-रेख में थे लेकिन, जैसे-जैसे कार्यक्रम का समय निकट आता गया, वे कार्यक्रम में जाने की ज़िद करने लगे और अंततः मंच पर अपने बड़े भाई के पास पहुंच ही गए। ऋताजी कहती हैं "मंच पर उनकी ओजपूर्ण आवाज़ और शानदार प्रदर्शन देखकर कोई भी व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं था कि वे अस्पताल से निकलकर



उस्ताद प्यारेलाल वडाली

सीधे मंच पर पहुंचे हैं। वे सच्चे अर्थों में योगी थे... संगीत योगी... हठ योगी..."

वडाली बंधुओं की यह बहुत बड़ी विशेषता थी कि वे व्यावसायिक कलाकार होते हुए भी अपने विचारों को, गीत-संगीत को व्यावसायिकता

की तुला पर नहीं तौलते थे, बल्कि स्वयं को सूफ़ियाना विचारों का संवाहक, प्रचारक मानते थे। व्यावसायिक कलाकार होने के बावजूद उन्होंने अपने संगीत को बाज़ारू नहीं बनने दिया... धन कमाने के लिए गाना ज़रूर गाया... किंतु धन कमाने के लिए अपने पारंपरिक गीत-संगीत के साथ समझौता कभी नहीं किया, जैसाकि उनके कई समकालीन संगीतकार कर रहे हैं। सादगी और सच्चाई की ठसक उनके गानों में भी थी और विचारों तथा रहन-सहन में भी। एक आम आदमी भी अपनी विद्या और नैसर्गिक तथा आडंबरहीन कला के बलबूते कितना ख़ास हो सकता है, इसके जीवंत और ज्वलंत उदाहरण थे वडाली बंधु। सूफी-संतों की वाणियों को गाते समय वे किस तरह उस विचारधारा से एकाकार हो जाते थे, उनकी गहराइयों में डूब जाते थे, इसे तब तक नहीं समझा जा सकता है जब तक सामने बैठकर उनका गाना न सुना जाए। अपने सुरों से वे एक लौ सी लगा देते थे सुनने वालों के मन में।

अमृतसर (पंजाब) के एक छोटे-से गांव में संगीतज्ञों के परिवार की पांचवीं पीढ़ी में जन्मे थे पूरणचंद वडाली और प्यारेलाल वडाली। पूरण चंद ने संगीत की आरंभिक शिक्षा अपने पिता उस्ताद ठाकुर दास वडाली से प्राप्त की। इसके बाद पंडित दुर्गा दास और उस्ताद बड़े गुलाम अली खान से भी सीखने का सौभाग्य पूरणचंद वडाली को मिला। छोटे भाई प्यारेलाल को उन्होंने खुद सिखाया। गायन में कमाल की महारत हासिल करने के बावजूद वडाली बंधुओं का संगीत के परिदृश्य पर उदय अति विलंबित लय में हुआ। बड़े भाई पूरणचंद वडाली को पहलवानी का शौक था और उनका अधिकांश समय अखाड़े में बीतता था। छोटे भाई प्यारेलाल वडाली संगीत के छोटे-मोटे कार्यक्रम किया करते थे और उसी से घर का ख़र्च चलता था। यह लगभग 1975 के आसपास की बात है लेकिन, अगर इसके भी थोड़ा पीछे जाएं तो प्यारेलाल वडाली गांव की रासलीला में कृष्ण की भूमिका करते हुए मिल जाएंगे। मंच की एकल प्रस्तुति में प्यारेलाल गीत, ग़ज़ल, भजन, सूफ़ियाना, काफ़ी, पंजाबी लोकगीत आदि लगभग सब कुछ गाते थे। बाद में उनके साथ उनके बड़े भाई और उस्ताद पूरणचंद वडाली भी जुड़ गए, फिर तो यह जोड़ी एक और एक ग्यारह की हो गई। इस जोड़ी ने जालंधर के सुप्रसिद्ध हरिवल्लभ संगीत समारोह से अपनी यात्रा शुरू की.. और.. देखते-ही-देखते संगीत की दुनिया में छा गए। इनके संगीत का नशा लोगों के सिर चढ़कर बोलता रहा... और ये अपने संगीत का अलख जगाते हुए आगे बढ़ते रहे, इसके बाद इन्हें पीछे मुड़कर देखने का न तो समय ही मिला और न ही अवसर...। और, फिर दिल्ली में संपन्न उस कार्यक्रम ने तो कमाल ही कर दिया जो दिल्ली के दिल इंडिया गेट पर आयोजित हुआ था और जिसमें वडाली बंधुओं

ने कई जगमगाते सितारों की चमक को पीछे छोड़ते हुए अपनी चमक-दमक और धमक से सबको चकाचौंध कर दिया। सचमुच! वह रात वडली बंधुओं के नाम रही। उस दिन वडली बंधु किसी धूमकेतु की तरह मंच पर आए और छा गए।

बड़े भाई पूरणचंद वडली को भारत सरकार ने पद्मश्री के अलंकरण से नवाजा है, हालांकि उनकी हार्दिक इच्छा थी कि यह अलंकरण दोनों भाइयों को साथ मिले लेकिन, शेष सभी सम्मान दोनों भाइयों के साथ ही मिले। इनमें से कुछ प्रमुख सम्मानों के नाम इस प्रकार हैं—तुलसी सम्मान (1998), केंद्रीय संगीत नाटक अकादेमी सम्मान (1992), पंजाब संगीत नाटक अकादेमी सम्मान (2003) और लाइफ टाईम एचीवमेंट्स सम्मान (2015), आदि। सूफियाना संगीत के इस सुहाने सफर में उस्ताद प्यारेलाल वडली का अचानक बीच सफर में साथ छोड़ जाना कुछ ऐसा लग रहा है जैसे तेज़ गति से उड़ते हुए किसी जहाज़ का एक पंख अचानक क्षतिग्रस्त हो जाए। पूरा संगीत समाज व्यथित है... दर्द में डूबा हुआ... अब आशा की एक छोटी-सी किरण यह है कि क्या पूरणचंद वडली के सुपुत्र अपने चाचा की जगह पर अपने पिता के साथ मंच पर बैठेंगे? उम्मीद कम ही है क्योंकि बाज़ार की मांग के अनुसार वे भी अपने संगीत को व्यवसायिक रंग देने में व्यस्त हैं। उस्ताद प्यारेलाल वडली को अंतिम प्रणाम!

- उस्ताद प्यारेलाल वडली की मृत्यु के सदमे से संगीत जगत अभी उबरने की कोशिश ही कर रहा था कि 22 मार्च की देर रात क़रीब सवा ग्यारह बजे प्रख्यात ख्याल गायक उस्ताद असलम ख़ान के निधन की सूचना मुंबई से आ गई। उस्ताद असलम ख़ान की ख्याति मात्र एक श्रेष्ठ गायक के रूप में ही नहीं थी, उन्हें अनेक अप्रचलित रागों का भी गहरा ज्ञान था, साथ ही अनेक घराने के गुरुओं की अनेक दुर्लभ और टकसाली रचनाओं का बहुत बड़ा खज़ाना भी उनके पास था। यही कारण था कि उन्हें अपने क्षेत्र का 'इनसाइक्लोपीडिया' भी कहा और माना जाता था। कई महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक जानकारीयां भी उनके पास थीं। वे पूरे अधिकार से कंठ संगीत के हापुड़, खुर्जा, जयपुर-अतरौली, दिल्ली, आगरा और सिकंदरा जैसी छह अलग-अलग शैलियों की गायकी प्रस्तुत करते थे।

उस्ताद अज़मत हुसैन ख़ां के सुयोग्य शिष्य उस्ताद असलम ख़ान संगीत को इबादत कहते और मानते थे। यही कारण था कि लाख परेशानियों और समस्याओं के बावजूद उन्होंने एक दिन भी रियाज़ नहीं छोड़ा, उसके लिए वे जैसे-तैसे समय निकाल ही लेते थे। वे कहते भी थे कि रियाज़ रोज़ करनी चाहिए। इसलिए नमाज़ और रियाज़ दोनों में उन्होंने कभी व्यावधान नहीं आने दिया... इसे जीवन के अभिन्न अंग के रूप में अपनाया... और... इस रिश्ते को जीवन की अंतिम सांस तक निभाया... मृत्युपर्यंत...

उस्ताद असलम ख़ान उच्चस्तरीय गुणी गायक थे, लेकिन इसके बावजूद उन्हें जो मान-सम्मान, उपाधि, अलंकरण मिलने चाहिए थे, नहीं मिले। यह हमारे संगीत समाज की बहुत बड़ी विडंबना ही है! उनके अंतिम दिन बहुत ही कष्टमय बीते। उनकी पत्नी और दो पुत्रों का निधन पहले ही हो गया था। वे स्वयं भी लकवाग्रस्त होने के कारण शारीरिक अक्षमता को झेल रहे थे लेकिन इसके बाद भी उन्होंने मदद के लिए किसी के भी आगे हाथ नहीं फैलाया। संगीत के संरक्षण के लिए उस्ताद असलम ख़ान ने जो काम किया है उसे ज़माना याद रखेगा।

- सुप्रतिष्ठित दिवंगत गायिका और संगीत संरक्षिका विदुषी करुणामयी अबरोल के 88वीं जन्मदिन के अवसर पर श्री अरविंद आश्रम की दिल्ली शाखा ने 'स्वर गंगा' नाम से उन्हें भावपूर्ण संगीतांजलि अर्पित

की। करुणाजी ने मातृ कला मंदिर के निदेशक के रूप में 1967 से 2016 तक संगीत जगत की बहुमूल्य सेवा की उदयकुमार मल्लिक सुप्रसिद्ध ध्रुवपद गायक हैं तो रंजन कुमार वायलिन वादक। दो विपरीत विधा के कलाकारों को एक-साथ सुनना एक सुखद अनुभव रहा। खासकर रंजन का ध्रुवपद अंग से वादन। उदय तो ध्रुवपद गाते ही हैं। इन दोनों कलाकारों ने इस शाम राग पूरिया और पटदीप की सुविचारित और मनभावन प्रस्तुति की। आयोजन भी चूँकि अरविंद आश्रम के साधना कक्ष में था, इसलिए वातावरण भी आम सभागारों से भिन्न था। सुनने वाले भी ध्यानस्थ थे और सुनाने वाले भी। यहां के आयोजन में तालियों आदि की औपचारिकता का निर्वाह नहीं किया जाता है। प्रथम रचना देवी स्तुति थी और दूसरी रचना देव वंदना। दोनों ही रचनाएं चारताल में निबद्ध थीं। नोम तोम का ओजपूर्ण आलाप, गमकदार आवाज़ और ध्रुवपद के माध्यम से शांत और भक्ति रस का आवाहन सब कुछ भावविभोर कर देनेवाला था। उदय के ध्रुवपद अंग के गायन की विशेषताओं को रंजन ने जिस प्रकार वायलिन पर उतारा वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। दोनों कलाकारों का आपसी तालमेल भी सुखद लगा। पखावज पर राजीव मल्लिक ने भी अच्छी संगत की।

दूसरी शाम पुणे की नलिनी जोशी के नाम रही जो मूलतः बिहार की हैं। नलिनीजी ने मंच पर बैठते ही वातावरण को संगीत के सुरों से सुवासित कर दिया। उन्होंने 'ओम नमो भगवते वसुदेवायः नमः' से शुभारंभ करके गुरुवंदना, देवीवंदना और गणेशवंदना की भावपूर्ण प्रस्तुति करके साधना कक्ष को भक्ति के रंग में रंग दिया। इसके बाद उन्होंने राग शंकरा की भावपूर्ण अवतारणा की। राग शंकरा में जब शिव की बात की जाए तो ऐसा लगता है कि यह राग सिर्फ इसी के लिए बना है। इनकी पहली रचना विलंबित एकताल में थी, 'देव महादेव', दूसरी रचना द्रुत त्रिताल में थी, 'शिव हर हर महादेव शंकर' और तीसरी रचना द्रुत एकताल में थी, 'ओम नमो शिवायः'। नलिनी जोशी का गायन अत्यंत भावपूर्ण रहा। शिव की शोभा और उनकी महिमा का वर्णन अभिभूत कर देने वाला था। नलिनी का सरस गायन और रस की चाशनी में डूबी तानें भावविभोर कर देने वाली थीं। इसके बाद उन्होंने तीन भजन



मोमिता बैनर्जी

भी सुनाए। कबीर रचित 'मन लाग्यो मेरो यार फकीरी में', विदुषी प्रभा अत्रे की 'निसदिन गाऊं तेरो नाम' और अंत में मिश्रभैरवी में 'जगत जननी भवतारिणी' गाकर नलिनी ने सबको जैसे सम्मोहित कर दिया। तबले पर उदयशंकर मिश्र ने काफ़ी अच्छी संगत की। विलंबित में ठंके का भराव आकर्षक था तो द्रुतख़्याल में सहयोग पूर्ण। भजनों के साथ उन्होंने सरस और भावपूर्ण तबला वादन किया। सारंगी पर शाहनवाज़

की संगत भी आकर्षक थी। तानपुरा पर प्रेमशीला थीं। प्रतिष्ठित गायक पद्मश्री पं. मधुप मुद्ग का शास्त्रीय-गायन भी इस कार्यक्रम का एक विशेष आकर्षण था किंतु दुर्भाग्यवश यह समीक्षक उसे नहीं सुन पाया।

● गांधी हिंदुस्तानी साहित्य सभा द्वारा संचालित नवोदित कलाकार समिति की संगीत संध्या की शुरुआत अरित्रो चौधरी के स्वतंत्र तबला वादन से हुई। अरित्रो एक ओर जहां अपनी माता नवोनिता चौधरी के मार्गदर्शन में गायन का अभ्यास कर रहे हैं वहीं प्रसिद्ध तबला वादक पं. अनंदो चटर्जी एवं उनके सुपुत्र अनुव्रत चटर्जी के सानिध्य में तबले का गहन प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हैं। इस शाम अरित्रो ने तीनताल में अपना स्वतंत्र तबला-वादन प्रस्तुत किया। पेशकार की सक्षिप्त प्रस्तुति के बाद विभिन्न प्रकार और जातियों के कायदे, रेलें, टुकड़े, परने और गतों की सफल प्रस्तुति की अरित्रो ने। उनके हाथ का रखाव और बोलों का शुद्ध तथा स्पष्ट निकास बताता है कि ये अनंदो चटर्जी जैसे अनुशासनप्रिय तबला वादक की देख-रेख में आगे बढ़ रहें हैं। काफी अच्छी तैयारी के बावजूद कहीं कोई बिखराव नहीं दिखा जैसा कि आमतौर पर युवा तबला वादकों में इन दिनों दिख जाता है। हारमोनियम पर इनकी माता नवोनिता चौधरी ने काफी सहयोगपूर्ण संगत की। इसके बाद सुप्रसिद्ध युवा गायिका मोमिता बैनर्जी ने 'द कलर्स ऑफ कृष्णा' नामक एक विषय आधारित गायन का कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसका शुभारंभ एक कृष्ण वंदना से हुआ। त्रिताल में निबद्ध द्रुत ख्याल 'श्याम मुरारी बनवारी गिरधारी', बंदिशी तुमरी, 'ना मानूंगी ना मानूंगी ना मानूंगी श्याम के मनाए बिना (त्रिताल)', होली, 'आज बिरज में होली रे रसिया' और फिर त्रिताल में निबद्ध चतुरंग, 'इननन नननन बाजे मोहे पैजनी' गायक मोमिता ने अपने गायन को विराम दिया। खुली और बुलंद आवाज़, स्पष्ट और भावपूर्ण उच्चारण तथा लय और स्वर पर पूर्ण नियंत्रण के कारण मोमिता को आज खूब सराहना मिली। एक रचना को दूसरी रचना से जोड़ने की उनकी शैली भी प्रशंसनीय थी। तबले पर जगजीत सिंह ने बहुत अच्छी संगति की। ख्याल से लेकर चतुरंग तक हर रचना के साथ अनुकूल संगति करके इन्होंने अपनी सूझ-बूझ का अच्छा परिचय दिया। हारमोनियम पर ललित सिसोदिया ने अच्छी संगत की।

● प्रसिद्ध संगीतविद्, संगीत संरक्षक और गांधर्व महाविद्यालय (दिल्ली) के संस्थापक पद्मश्री पं. विनयचंद्र मौद्गल्य की जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष में गांधर्व महाविद्यालय ने एक पांच-दिवसीय आयोजन किया, जिसमें चार दिन महाविद्यालय के छात्र-छात्राओं की प्रस्तुतियां रहीं। मउमाला नायक और मोनिषा नायक क्रमशः लखनऊ और जयपुर घराने की युवा नृत्यांगनाएं हैं, साथ ही अच्छी गुरु भी। इस आयोजन में एक दिन इनके शिष्य-शिष्याओं का रहा। मउमाला नायक अच्छा गाती भी हैं। इसका परिचय आज उन्होंने मंच से दिया। प्रारंभिक से अलंकार (एम. ए.) तक के छात्र-छात्राओं की प्रस्तुतियां देखकर गांधर्व महाविद्यालय की शिक्षण तकनीक, मउमाला और मोनिषा की शिक्षण प्रतिभा तथा विद्यार्थियों की मेहनत का अनुमान लगाया जा सकता है। मउमाला के शिष्य-शिष्याओं ने 'सरस्वती वंदना' से कार्यक्रम का शुभारंभ करके राम स्तुति, गुरु वंदना और दुर्गा स्तुति आदि की सुंदर प्रस्तुति की। रूपक, रास ताल और आड़ा चौताल जैसे कठिन तालों का प्रदर्शन आकर्षक रहा। मउमाला की शिष्याओं ने विभिन्न प्रकार की नायिकाओं का सुंदर और भावपूर्ण प्रदर्शन किया जिसके लिए मउमाला निश्चय ही बधाई की पात्र हैं। मोनिषा नायक के शिष्यों ने कार्यक्रम का शुभारंभ 'गुरु वंदना' से किया। बाद में एक तराना, शिव वंदना, विष्णु वंदना और पं. नारायण प्रसाद रचित तुमरी पर सुंदर अभिनय किया।



एन. राजम्

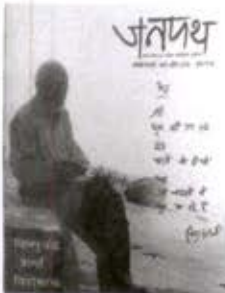
पं. विनयचंद्र मौद्गल्य शताब्दी समारोह का भव्य समापन पद्मभूषण विदुषी एन. राजम् के भव्य वॉयलिन-वादन से हुआ। एन. राजम् देश की बड़ी कलाकार हैं और इस समीक्षक ने उन्हें विगत पचास वर्षों में कम-से-कम सौ बार सुना है.... वे अच्छा बजाती हैं... बहुत अच्छा बजाती हैं... लेकिन उनका आज का वादन अप्रतिम था... क्योंकि आज वे भाईजी जैसे महान् कलाकार के लिए बजा रही थीं। उनके साथ उनकी दौहित्री नंदनी शंकर वॉयलिन पर थीं और उस्ताद मोहम्मद अकरम खां तबले पर। एन. राजम् का वॉयलिन आज कई दृष्टि से श्रवणीय था। उन्होंने यमन जैसे राग से शुरुआत की जिससे विद्यार्थियों की संगीत शिक्षा आरंभ की जाती है। वादन के लिए गायकी अंग की प्रचलित रचनाओं को लिया लेकिन 'मोरा मनवा' (विलंबित एकताल) और 'पिया की नजरिया' (द्रुत तीनताल) जैसी आम रचनाओं के माध्यम से आज उन्होंने इस राग को खास बना दिया। राग के मार्मिक स्थलों को सहलाते हुए जब वे अचानक चुपके से सम पर आ जाती थीं तो सुनने वालों को मुंह से अनायास वाह निकल जाता था। इसके बाद उन्होंने राग जयजयवंती की सुरीली अवतारणा की। बोल बांट की तुमरी (बंदिशी) 'न मानूंगी न मानूंगी न मानूंगी मैं तो पिया के मनाए के बिना' में बोल-बनाव का जो काम उन्होंने दिखाया उन्हीं के बूते की बात थी। मान-मनुहार के भावों को दर्शाते हुए उन्होंने सुरों का परिकल्पनापूर्ण प्रयोग किया। समापन उन्होंने अपने गुरु पं. ओंकारनाथ ठाकुर के प्रिय भजन 'जोगी मत जा मत जा मत जा' (राग भैरवी) से किया। एन. राजम् के साथ वॉयलिन पर नंदनी शंकर उनका साथ दे रही थीं। नंदनी अभी युवा हैं लेकिन अपनी नानी के समस्त गुणों को आत्मसात् करने के लिए प्रयासरत दिखती हैं। उनके वॉयलिन में उम्र के लिहाज से थोड़ी शोखी भी है, चंचलता भी, नटखटपन भी और शरारतें भी लेकिन साथ ही साथ गहराई की ओर जाने का प्रयास भी। तबले पर उस्ताद अकरम खां की संगति काफी सहयोग और सामंजस्यपूर्ण रही। अकरम बहुत तेज़-तर्रार तबला वादक हैं लेकिन आज उनका तबला यह दिखला रहा था कि वे एक वरिष्ठ महिला कलाकार की संगति कर रहे हैं। यह तहजीब इन दिनों के युवा कलाकार भूलते जा रहे हैं। उनके आज के वादन में कहीं भी तालियों की चाह नहीं दिखी। यह बहुत बड़ी बात है। विदुषी एन. राजम् ने 'जोगी मत जा' के मार्मिक सुरों के साथ जब अपने वॉयलिन वादन को विराम दिया तो कई मिनटों तक श्रोता सम्मोहन की अवस्था में डूबे रहे और उसके बाद जो तालियों की गड़गड़ाहट गूंजी तो फिर धमने का नाम नहीं ले रही थीं। पं. विनयचंद्र मौद्गल्य शताब्दी समारोह का इससे सुंदर समापन भला और क्या हो सकता था

इनकार और असहमति : लेखक के 'स्व' की है बड़ी पहचान

संजीव श्रीवास्तव



संपर्क : 37-ए, तीसरी मंजिल,
गली नं. 2, प्रताप नगर, मयूर
विहार, फेज-1, दिल्ली-110091
मो. 9313677771



जनपथ (विष्णुचंद्र शर्मा विशेषांक)

अतिथि संपादक : प्रमोद कुमार तिवारी
संपादक : अनंत कुमार सिंह

संपर्क : मदनजी का हाता, आरा,
जिला-भोजपुर-802301

मूल्य : 80 रुपये
मो. : 9431847568

विष्णुचंद्र शर्मा हिंदी के दुर्लभ साहित्यकार यूं ही नहीं कहे जाते हैं। पंद्रह काव्य-संकलन, आठ उपन्यास, तीन कहानी संकलन, सात आलोचना पुस्तक, सात संस्मरण, दस ग्रंथों तथा 'कवि', 'कहानी', 'जनयुग', 'सर्वनाम' जैसी पत्रिकाओं का संपादन करने वाले रचनाकार विष्णुचंद्र शर्मा के कृतित्व और व्यक्तित्व पर विशेषांक निकालकर 'जनपथ' ने स्तुत्य कार्य किया है। संपादकीय की शुरुआत में अनंत कुमार सिंह ने ठीक ही लिखा है, "उनके भारी-भरकम साहित्यिक योगदान को नजरअंदाज किया गया। शोर-शराबे और प्रदर्शन के विपरीत लगभग खामोशी के साथ उन्होंने रचनाएं कीं। जितना कुछ लिखा उस पर चर्चा कम हुई है।" तो वहीं बतौर अतिथि संपादक प्रमोद कुमार तिवारी लिखते हैं, "हिंदी के सारे पुराने केंद्रों (बनारस, इलाहाबाद, पटना, भोपाल आदि) को उदरस्थ करने वाले महाकेंद्र दिल्ली में विष्णुचंद्र शर्मा काफी लोगों से पहले यानी सन् 1960 में आ गए थे पर वे दिल्ली के नहीं सादतपुर के हैं। उनके लिए दिल्ली जभी बहुत दूर है, जिसके चक्कर में वे कभी नहीं पड़े, ज़ाहिर है दिल्ली को क्या पड़ी थी जो उनके बारे में सोचती।"

ये दो बानगी बताने के लिए पर्याप्त है कि हिंदी साहित्य को विपुल योगदान देने के पश्चात् भी विष्णुचंद्र शर्मा को वह स्थान या महत्व नहीं मिल सका तो उसकी बड़ी वजह क्या थी लेकिन 'जनपथ' जैसी पत्रिकाएं अगर इनके जैसी शख्सियतों पर केंद्रित विशेषांक निकाले तो समझा जा सकता है साहित्य में सब को शोर-शराबा पसंद नहीं, रचनात्मकता और साधना की अपनी अलग पहचान और अहमियत है।

एक सौ बानवे पृष्ठों के इस विशेषांक में विष्णुचंद्र शर्मा के संपूर्ण रचना-संसार को तेईस लेखकों ने मिलकर समेटने का प्रयास किया है। हालांकि करीब साठ पुस्तकों के उस लेखक को दो सौ से भी कम पृष्ठों में क्या समेटा जा सकता है लेकिन ये लेख, संस्मरण आदि उस लेखक की सादगी, विशृंखलता, रचनात्मकता, जीवन-शैली, आंतरिक विराटता, अभिरुचि आदि का मूल्यांकन परक परिचय कराते हैं जो अपने-आप में काफी अगम है। इन तेईस लेखकों में हैं-विश्वनाथ त्रिपाठी, भगवान सिंह, शेखर जोशी, केदारनाथ सिंह, राजेश जोशी, जानकीप्रसाद शर्मा आदि। अंक में विष्णुजी की कविताएं, कहानी, आत्मकथा का अंश तो प्रकाशित किए ही गए हैं साथ ही पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', रामविलास

शर्मा तथा नामवर सिंह पर लिखे उनके आलोचनात्मक लेख भी प्रकाशित किए गए हैं। एक खास बात जो इस अंक को बहुविध बनाती है, वह है विष्णुजी पर लिखी संजय चतुर्वेदी, केशव तिवारी, एकांत श्रीवास्तव, चंद्रभानु भारद्वाज तथा कुबेर दत्त की कविताएं।

हिंदी के बहुत विरले कवि हुए हैं जिन पर बाद की पीढ़ी के कवियों ने कविताएं लिखी हैं। निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन की यायावरी और लेखन से दुनिया भलीभांति परिचित हैं। शायद वह समय कुछ और था लेकिन आज अगर आपके बायोडाटा में विश्वविद्यालयों से लेकर अकादमियों तक संधान करने वाले नेटवर्क का नामोनिशान नहीं है तो आपकी प्रतिभा और प्रभा भी चमकविहीन है। 'जनपथ' के इस अंक की जितनी प्रशंसा की जाए कम है। एक संग्रहणीय अंक। एक विचारणीय अंक।



सामयिक सरस्वती (आचार्य रामचंद्र शुक्ल विशेषांक)

संपादक : महेश भारद्वाज

अतिथि संपादक : दिनेश कुमार

संपर्क : 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी
सुभाष मार्ग, दरियागंज,

नई दिल्ली-110002

मूल्य : 100 रुपये

दूरभाष : 11-23282733

हिंदी साहित्य के इतिहास के वैज्ञानिक और संभवतः सबसे प्रामाणिक इतिहास लेखक और समालोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आलोचकीय कर्म पर यह विशेषांक एक पुनर्मूल्यांकन का प्रयास है। समालोचना-पुरुष कहे जाने वाले आचार्य शुक्ल पर अनेक शोध पुस्तकें पहले से प्रकाशित हैं लेकिन एक साहित्यिक पत्रिका का उनके ऊपर विशेषांक प्रकाशित करने का औचित्य इसी बात से समझा जा सकता है जिसकी तरफ अतिथि संपादक ने ध्यान दिलाया है, "पिछले कई दशकों से हिंदी में शुक्लजी पर किसी पत्रिका का कोई विशेषांक नहीं आया है और न ही उनके मूल्यांकन की कोई कोशिश हुई है। हां, इन पर चारों तरफ से हमले जरूर हुए हैं।" क्या थे वे हमले और उन हमलों की वजह क्या थी जिसके कारण हिंदी साहित्य की प्रारंभिक इमारत शुद्धतावाद की बुनियाद पर तैयार हुई। गौरतलब है कि विशेषतः भाव और अनुभूति की अभिव्यक्ति को साहित्य का दर्जा देने वाले आचार्य शुक्ल साहित्य को स्वतंत्र विधा तो मानते थे लेकिन इसके अंतर्गत सामाजिकी या सामाजिक जनरेशन की स्रोत विधा को साहित्य की परिधि से बाहर रखते थे। शुक्लजी के खारिज करने पर ही देवकीनंदन खत्री के विपुल रचना-भंडार गंभीर साहित्य की श्रेणी में स्थान नहीं मिला। खत्रीजी ने खड़ी बोली के गद्य को जन-जन तक पहुंचाने में अपनी रचनाओं से जो योगदान दिया वह सबको मालूम है लेकिन शुक्लजी की नजर में वह गंभीर साहित्य नहीं है। बहरहाल, शुक्लजी के इन्हीं दृष्टिकोणों

पर विचार करने वाले यहां उपस्थित विद्वान लेखकों के नाम इस प्रकार हैं—मधुरेश, सुधीश पचौरी, गोपेश्वर सिंह, श्रीभगवान सिंह, गोपाल प्रधान, कमलेश वर्मा, राधावल्लभ त्रिपाठी, वेंकटेश कुमार, विजय कुमार सिंह, कृष्णदत्त शर्मा, राजेंद्र कुमार और ओमप्रकाश सिंह। इन विद्वानों द्वारा व्यावहारिक साहित्य और सैद्धांतिक आलोचना के द्वंद्व और युद्ध की एक झलक इस विशेषांक में प्रस्तुत की गई है लेकिन यह पक्ष विचारणीय अब भी शेष है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अगर तब ही हिंदी साहित्य के रचना क्षेत्र को उदात्त बनने दिया होता तो हिंदी के बहुत से रचनाकारों के लेखन गंभीर साहित्य की श्रेणी से बाहर नहीं होते। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में उनका को भी उचित स्थान होता।



समकालीन भारतीय साहित्य

(जनवरी-फरवरी, 2018),

अतिथि संपादक : रणजीत साहा

संपर्क : रवींद्र भवन, 35 फ़िरोजशाह
कोटला मार्ग, नई दिल्ली-110001

मूल्य : 25 रुपये

दूरभाष : 011-23073312

“मैं समकालीन भारतीय साहित्य के संपादक मंडल का कृतज्ञ और अपने समस्त सहयोगियों, विशेषकर मधुमालती जैन और प्रीतम सिंह के साथ उन तमाम लेखकों, अनुवादकों और मित्रों का आभारी हूँ, जिन्होंने इस पत्रिका को अपना सहयोग और संबल प्रदान किया है। मैं अब इस संपादकीय कार्यदायित्व से विराम ले रहा हूँ।” सिंधी भाषा साहित्य पर विशेष अंक के संपादकीय के अंतिम पैरा में रणजीत साहा के ये उद्गार इस पत्रिका के विभिन्न आयोजनों की स्मृति दिलाते रहेंगे। उन्होंने अपने कार्यकाल में ‘समकालीन भारतीय साहित्य’ को रचनात्मकता का एक ऐसा प्लेटफॉर्म बना कर रखा था जिसकी उपाय देयता लेखकों, कवियों की नज़रों में स्वतःसिद्ध रही है। इस सिंधी साहित्य पर केंद्रित अंक के बारे में उन्होंने संपादकीय में लिखा है, “सिंधी साहित्य में आज़ादी के साथ ही, इस पीढ़ा और विभाजनजन्य त्रासदी को लेकर अकूत रचनाएं लिखी गई हैं, जिन्हें कई संकलनों एवं संचयनों में संग्रहीत भी किया गया है। हालांकि इस मानव निर्मित और इतिहास निर्णीत नियति को बदला नहीं जा सकता तो भी सिंधी साहित्य और साहित्य ने इस विडंबना को अपने अदम्य साहस, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास से उखाड़ फेंकने का प्रयास किया। वे विभाजन के हर ज़ख्म को आज तक हंस-हसकर झेलते रहे हैं और न केवल अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ियों के साथ बल्कि अपनी परवर्ती संतति के लिए भी नए प्रस्थान रच रहे हैं।” रणजीत साहा के मुताबिक इस अंक की दो साल पहले तैयारी शुरू हुई जिसमें सिंधी साहित्य की समस्त प्रवृत्तियाँ समाहित की गई हैं। अंक में पांच बड़े आलेख प्रकाशित किए गए हैं जोकि सिंधी साहित्य के इतिहास, वर्तमान और उसकी विधागत विशेषताओं को विशेष रूप से प्रकट करते हैं। सिंधी भाषा में कथा और नाटक तो पर्याप्त लिखे ही गए हैं, कविताएं और ग़ज़लें विशेषतौर पर उल्लेखनीय हैं। वासदेव मोही ने अपने आलेख में लिखा है कि सिंधी भाषा में तीन शती पहले से ग़ज़लें लिखी जाती थीं। इनमें भाषा का अद्भुत प्रयोग होता था। सिंधी के साथ उर्दू और फ़ारसी का प्रयोग काफी किया जाता रहा है। गोवर्धन भारती की ग़ज़ल की एक बानगी देखिए—

इक-इक चिराग़ में अब पानी लगा है जलने / मुट्ठी में रोशनी को अब सब लगे हैं रखने / हर आदमी से उसका साया अलग हुआ है / वो अपने मन की पीड़ा खुद से लगा है कहने / याकि / हरी ‘दिलगीर’ की न पंक्तियों को ज़रा गौर कीजिए / ओस का कतरा चमका चुप-चुप / सूरज निकला, सूखा चुप-चुप / अलि ने कली को चूमा चुप-चुप / गोरी ने पट खोला चुप-चुप

इस विशेषांक में दो नाटक भी प्रकाशित किए गए हैं, प्रेम प्रकाश के ‘जब हम जिंदा थे’ और सुनील गज्जाणी के ‘किनारे से परे’। दोनों ही नाटक विशेष प्रासंगिक और मंचनीय नाटक हैं।



वागर्थ (मार्च, 2018)

संपादक : शंभुनाथ

संपर्क : 36ए, शेक्सपियर सरणी,
कोलकाता- 700017

मूल्य : 20 रुपये

मो. : 7449503734

पल्लवी त्रिवेदी, आशुतोष, मंजुश्री, जसिता केरकेट्टा, मनोज कुमार झा आदि युवा लेखकों की रचनाओं के अलावा पत्रिका का यह अंक भक्ति साहित्य को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने का एक सार्थक प्रयास करता प्रतीत होता है। संपादकीय और उसका शीर्षक ही बताता है कि अंक की अर्थवत्ता क्या है? जैसा कि संपादकीय में लिखा गया है, “क्या ईश्वर धर्मनिरपेक्ष नहीं है? ईश्वर सभी धर्मों में है और धर्मों से स्वाधीन भी है। भक्त कवियों का ईश्वर ऐसा ही था।” “सांप्रदायिकता या आतंकवाद अज्ञानता-निर्माण विद्या की देन है। फ़िलहाल मानवता की अब तक की सारी उपलब्धियाँ शक के दायरे में ला दी गई हैं। इतिहास को झूठा बताया जाने लगा है। सांप्रदायिक और जातीय स्वार्थों के अनुरूप इतिहास बन रहे हैं। आज इतिहास अज्ञानता के शोषण का एक विशाल मंच है। ईश्वर के सबसे बड़े शत्रु धर्मों के भीतर छिपे हैं।”

इन्हीं आधार बिंदुओं पर एक गंभीर परिचर्चा के साथ विशेष सामग्रियाँ शामिल की गई हैं। भक्ति साहित्य की अर्थवत्ता को लेकर नंद किशोर आचार्य, मैनेजर पांडेय, रमेश कुंतल मेघ, अजय तिवारी, राजकुमार, प्रमिला केपी, अरुण कुमार, रवि श्रीवास्तव और आशीष त्रिपाठी से युवा लेखिका पूजा गुप्ता ने एक विस्तृत परिचर्चा की है। इसमें भक्ति साहित्य की धारा के उत्स और उत्कर्ष का इतिहास है तो उसका समसामयिक संदर्भ भी। आज की तारीख में विश्वविद्यालयों में भक्ति साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के अपने खतरे देखे जाने लगे हैं, तो ज़ाहिर है कि इसकी परिवेशजनित व्याख्या होनी चाहिए। यहां एक सवाल यह भी है कि भक्त कवियों की कविताएं कभी उस तरह से एकांगी नहीं रहीं जिस प्रकार भक्ति कवियों की शाखा पृथक-पृथक रही है। बहरहाल इसी परिप्रेक्ष्य में इस परिचर्चा के आगे गोपेश्वर सिंह का लिखा ‘गांधीवाद और भक्ति काव्य’ एक महत्वपूर्ण आलेख है। उन्होंने एक जगह लिखा है, “भक्त कवियों ने निजी मोक्ष को सामाजिक मोक्ष में बदल दिया था ‘कबीरा सोई पीर है जो जाने पर पीर’, या ‘परहित सरिस धर्म नहीं भाई’ का भाव उसका सर्वोपरि संदेश था।”

अंक में समीक्षा और साक्षात्कार का अनोखा प्रयोग किया गया है जिसमें इस बार मृणाल पांडे, एस.आर. हरनोट और पंकज सुबीर के कहानी-संग्रहों की समीक्षा और उनसे संक्षिप्त साक्षात्कार दिए गए हैं। इस प्रयोग की सराहना की जानी चाहिए।



दस्तावेज़ 156

संपादक : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

संपर्क : बेतियाहाता, गोरखपुर-273001

मूल्य : 25 रुपये

मो. : 9454839732

‘दस्तावेज़’ के इस अंक में कुछ अहम कविताएं प्रकाशित हुई हैं। प्रेमरंजन अनिमेष की ‘नींद में कुछ कविताएं’ शीर्षक से बयालीस कविताओं की एक शृंखला प्रकाशित हुई है। ये कविताएं संवेदना और सुकून की दूसरी दुनिया में ले जाती हैं जहां यथार्थ रोमांटिसिज़्म की शकल में चस्प्यां हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिए, “किसके इंतज़ार के बांद/आई

नींद/अब नींद में है/किसका इंतज़ार?" इसके अलावा वशिष्ठ अनूप की गज़लें भी काफी आकर्षित करती हैं लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण सामग्री राजी सेठ पर लिखा पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु' का आलेख है जिसमें राजी सेठ के कथा-संसार का महत्वपूर्ण मूल्यांकन किया गया है। गौरतलब है कि आमतौर पर राजी सेठ जैसी गंभीर महिला-कथाकार के रचनाकर्म पर कम ही विश्लेषणात्मक लेख पढ़ने को मिलते हैं।



दोआबा (अप्रैल-जून 2018)

संपादक : जाबिर हुसैन

संपर्क : 247-एमआईजी, लोहियानगर,
पटना-800020

मूल्य : 75 रुपये

हाल के समय में लिखी जा रही कविताओं ने एक करवट ली है। बिहार से प्रकाशित हो रही अब एक मात्र रह गई स्तरीय पत्रिका 'दोआबा' के इस अंक की सबसे बड़ी खूबी यही है कि इसमें हिंदी ही नहीं, दूसरी भारतीय भाषाओं की रचनाओं को भी प्रमुखता से स्थान दिया गया है। स्नेहमयी चौधरी, अरविंद श्रीवास्तव और कुमार विजय गुप्त आदि की हिंदी की कविताएं तो यहां हैं ही, असमिया और पंजाबी कविताएं पूर्ण स्पेस के साथ विराजमान हैं। "सच! मेरा दिल चाहता है कि/नए साल की तुम्हारी/सारी चिंताओं की कड़वाहट/मेरी कविताएं पी जाएं" वास्तव में इन कविताओं को पढ़ते हुए अजनबी आवाजों का कृतई अहसास नहीं होता। ये कविताएं भी हमारे आस-पास की दुनिया की टूटन के शब्द हैं। इसी तरह हरिराम मीणा और कंवल भारती का दरीचा पढ़ेंगे तो सामाजिक बोध का नया यथार्थ सामने सजीव हो उठेगा। इसमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए कहने में कि 'दोआबा' जिस तरह से धीरे-धीरे उत्तरोत्तर अपनी सार्थकता की ओर बढ़ रही है, आने वाले समय में सभी साहित्यिक सुधीजनों का ध्यान खींचने वाली एक गंभीर रचना-प्रधान तथा अपने समकालीन बोध से परिचय कराने वाली जरूरी पत्रिका साबित होगी।

यात्रा के एक पड़ाव की तरह 'दोआबा' का पच्चीसवां अंक, अप्रैल-जून 2018 अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। स्त्री रचनाशीलता पर केंद्रित यह अंक अपने को विशेषांक कहने से परहेज़ करता है। अग्रिम पंक्ति की सात कथा लेखिकाएं एक इंद्रधनुष रचती हैं, जिनमें वंदना राग, नीला प्रसाद, प्रत्यक्षा और शर्मिला जालान की कहानियां विशेष ध्यान खींचती हैं। इन कहानियों पर किसी मतवाद या व्यक्ति का प्रभाव नहीं है। 'कविता कैनवस' में सोलह कवयित्रियों की काव्य-ध्वनियां हैं। सविता सिंह, अनामिका, अनीता वर्मा, पारुल पुखराज और जसिंता केरकट्टा की कविताएं स्त्री-संसार के विमर्शों विषयों का पता देती हैं। 'कविता समय' में असद जैदी और नरेश गोस्वामी ने निकानोर पार्रा और माया एंजेलो की कविताओं का अंग्रेज़ी से हिंदी अनुवाद किया है। दोनों के अनुवाद अच्छे हैं। गंगा से पद्मा खंड में बंगला भाषा में लिखी स्त्री रचनाशीलता ही केंद्र में है, लेकिन भौगोलिक सीमाएं बांग्लादेश तक चली जाती हैं। नाज़नीन खलील और झरना रहमान की कविताएं बेहद सघन भाव-भूमि लिए हुए हैं।

कृष्णा सोबती ने आज़ादी के तुरंत बाद की दिल्ली से परिचय कराती हैं तो अलका सरावगी अपने लेख में कहती हैं, "जातीय स्मृतियां समय के बारीक चलनी में छनती रहती हैं और कई बार अपने पुराने

मोटिफ बदलकर एक नया स्वरूप ग्रहण करती रहती हैं।"

पैसेट से अधिक रचनाकारों की विविध विधाओं की रचनाओं से एक खूबसूरत साहित्यिक पत्रिका पाठकों तक पहुंचाने जैसे काम को जाबिर हुसैन ही कर सकते हैं। इसके लिए वे बधाई के हकदार हैं।



साक्षात्कार (मार्च, 2018)

संपादक : उमेश कुमार सिंह

संपर्क : साहित्य अकादमी, संस्कृति
भवन, बाणगंगा, भोपाल-3

मूल्य : 25 रुपये

दूरभाष : 0755-2554782

संपादकों के अपने-अपने दृष्टिकोण होते हैं। मध्यप्रदेश की साहित्यिक पत्रिका 'साक्षात्कार' के इस अंक में भक्ति साहित्य के बदले भक्ति आंदोलन पर विचार किया गया है। लेखक नरेंद्र मिश्र इस लेख में भारत के विभिन्न पंथों और उनके प्रवर्तकों के योगदानों का जिक्र करते हुए अनेक सामाजिक बुराइयों के लिए विदेशी आक्रांताओं को दोषी ठहराते हैं। यही नहीं इस साहित्यिक पत्रिका के धरोहर खंड में दत्तोपंत ठेंगड़ी का लेख है, 'नेशनलिज़्म का उदय', जिसमें उन्होंने यूरोपीय देश, जापान तथा चीन की राष्ट्रवादी तथा विस्तारवादी नीति और उसके इतिहास का जिक्र किया है। आलेख पठनीय है लेकिन उद्देश्य अस्पष्ट है। अंक में साहित्य की मूल रचनात्मक विधा मसलन कविता, कहानी हाशिय पर जरूर है लेकिन इसी अंक में बद्रीप्रसाद पंचोली से नरेंद्र मिश्र का पठनीय साक्षात्कार प्रकाशित हुआ है। पंचोली प्रसाद पंचोली विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रमुख पदों पर रह चुके हैं और उनका योगदान अहम रहा है।



प्राची (मार्च, 2018)

प्रधान संपादक : भारत यायावर

संपर्क : 7, श्री होम्स, कंचन विहार,
बचपन स्कूल के पास, लामटी, विजय
नगर, जबलपुर-482002 (म.प्र.)

मूल्य : 30 रुपये

मो. : 9425323193

यह पत्रिका पिछले आठ साल से प्रकाशित हो रही है। यह बात मामूली नहीं है। बिना किसी मजबूत आर्थिक स्रोत या व्यावसायिक पक्ष के मासिक साहित्यिक पत्रिका को अनवरत प्रकाशित करना अदम्य साहस का कार्य है। 'प्राची' का यह अंक भी हिंदी साहित्य के ऐसे ही अदम्य साहसी और ऊर्जावान लेखक फणीश्वरनाथ रेणु पर विशेष सामग्री लेकर आया है। रेणु की जन्मशती के मौके पर आए इस विशेष अंक में भारत यायावर का एक विस्तृत संस्मरण प्रकाशित किया गया है। यह संस्मरण साहित्य में रेणु होने का मतलब दर्शाता है। रेणु कितने ज़मीन से जुड़े थे फिर भी आधुनिकता के भविष्य को दूरदर्शी की तरह देख चुके थे। उनका सारा साहित्य इस वाक्य का गवाह है। अंक में 'पार्टी का भूत' शीर्षक रेणुजी की कहानी भी प्रकाशित की गई है। इसके अलावा अंक में अशोक मिश्र, दिव्य यादव, एमडी मिश्रा तथा कुंवर प्रेमिल की कहानियां जो कि आकार में छोटी और प्रभावशाली हैं। □

आधुनिक भारत के निर्माता : रवींद्रनाथ ठाकुर



**आधुनिक भारत के निर्माता :
रवींद्रनाथ ठाकुर**

लेखक : हिरण्मय बनर्जी

**प्रकाशन विभाग, सूचना भवन
सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड,
नई दिल्ली-110003**

पृष्ठ : 225

मूल्य : 140 रुपये

अधुनिक भारत के निर्माताओं में रवींद्रनाथ ठाकुर का महत्वपूर्ण स्थान है। उनके अनेक योगदान अपनी अलग विशेषता रखते हैं। आध्यात्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में तो मुख्य रूप से उनकी देन है ही, पर यह देन यहाँ तक सीमित नहीं है। अन्य क्षेत्रों में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सांस्कृतिक क्षेत्र में, उन्होंने संगीत की एक नई शैली को जन्म दिया, जो उनके नाम पर 'रवींद्र संगीत' कहलाई और इस तरह वे एक असाधारण स्वर-शिल्पी के रूप में सामने आए। परंपरागत भारतीय नृत्यों के संरक्षक की हैसियत से, उन्होंने उन्हें पुनरुज्जीवित किया और इस प्रक्रिया में नृत्य की एक नई शैली प्रस्तुत की। और, अंत में, वृद्धावस्था में, जब वे चित्रकार बन गए तो विदेशी कला-पारखियों से उन्हें बहुत ही उत्साहपूर्ण सराहना मिली।

अन्य क्षेत्रों में भी उनकी उपलब्धियाँ कम उल्लेखनीय नहीं हैं। शिक्षाविद् के रूप में, उन्होंने नए विचारों का सूत्रपात किया। एक संवेदनशील मानववादी के रूप में, उन्होंने ग्रामवासियों की दशा सुधारने के लिए ग्राम-पुनर्निर्माण के नए प्रयोग किए।

रवींद्रनाथ ठाकुर के चरित्र के कई पहलू हैं। इस पुस्तक में उनकी उपलब्धियों को उनके बहुआयामी जीवन से जोड़ते हुए, उनके चरित्र के विभिन्न पहलुओं और हमारी विरासत में उनके योगदान पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

निस्संदेह साहित्य के नोबेल पुरस्कार से सम्मानित गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने न केवल भारतवर्ष में बल्कि संपूर्ण विश्व में एक सफल और लोकप्रिय कवि, संगीतकार और चित्रकार के साथ-साथ आध्यात्मिक राजदूत, शिक्षाविद् और सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में अपनी अमिट छाप छोड़ी है। अमर कृति 'गीतांजलि' के रचयिता और 'राष्ट्रगान' के जन्मदाता रवींद्रनाथ ठाकुर ने 'विश्व भारती' विरासत में दी।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक हिरण्मय बनर्जी ने उनके जीवन के विभिन्न पक्षों को बहुत ही सरल और प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

इस पुस्तक में रवींद्रनाथ ठाकुर की पारिवारिक पृष्ठभूमि, उनका बचपन, शिक्षा, वैवाहिक जीवन, आत्मदर्शन के साथ-साथ सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में भी विस्तृत चर्चा की गई है जो बेहद रुचिकर और ज्ञानवर्धक है। उदाहरण के लिए—

“रवींद्रनाथ के बचपन में पिता अधिकतर घर से बाहर ही रहते थे और अपने दिन हिमालय के पहाड़ों में बिताते थे। इसलिए मकान की तीसरी मंजिल पर उनके कमरे बंद रहते थे। जिज्ञासा की दुःसाहसिकता से प्रेरित रवींद्रनाथ चोरी-छिपे मकान के उस हिस्से में पहुँच जाता और चुपचाप कुंडा सरकाकर दरवाजा खोल देता। इस तरह अंदर घुसकर वह दक्षिणी कमरे के एक कोने में रखे सोफे पर जम जाता और वहीं अपना समय बिताता। कमरों से लगे स्नानागार में हाल ही में स्वच्छ पानी का नल लगवाया गया था। उसका जिज्ञासु मन उसके साथ छेड़-छाड़ करने के प्रलोभन को किसी तरह रोक नहीं पाता था। अतः, वह वहाँ ज़रूर पहुँच जाता और नल खोलकर उसकी धार के नीचे नहाता। नहाने की ज़रूरत के कारण नहीं बल्कि नल चलाने की महज खुशी के कारण ही वह ऐसा करता।” (अध्याय 'जन्म और बचपन', पृ. 39)

रवींद्रनाथ ठाकुर के विचारों ने, बाद में विश्व की एक सर्वेश्वरवादी धारणा का रूप लिया। इस दृष्टिकोण से, ईश्वर सृष्टि में सन्निहित रूप से काम कर रहा है। इसी पुस्तक के 'आत्मदर्शन' अध्याय में उन्होंने बहुत ही सुंदर ढंग से व्यक्त किया है—

“ईश्वर हमसे दूर, मंदिरों में नहीं है। वह हमारे भीतर है। वह अदृश्य रूप से जीवन और मृत्यु, आनंद और पीड़ा, पाप और पुण्य, मिलन और वियोग में व्याप्त है। यह पृथ्वी स्वयं उसका चिरंतन मंदिर है। इस जीवंत, सचेत, विराट मंदिर की निरंतर तरह-तरह के नए आकारों में पुनर्रचना हो रही है। इसमें नया कुछ नहीं है, इसमें हर चीज़ निरंतर परिवर्तनशील है। फिर भी इसकी गहरी एकता, इसकी वास्तविकता और इसके नित्य स्वरूप का कभी नाश नहीं क्योंकि इस बहती विविधता में एक ध्रुव सत्य व्यक्त है।”

इसी प्रकार विभिन्न अध्यायों के माध्यम से गुरुदेव के जीवन के विभिन्न रोचक प्रसंगों को पुस्तक में शामिल किया गया है।

पुस्तक की मुख्य विशेषता यह है कि इसके अंत में परिशिष्टों के माध्यम से रवींद्रनाथ ठाकुर की वंशावली, उनकी महत्वपूर्ण रचनाओं की कालक्रमानुसार सूची भी रखी गई है जिससे पाठक विशेष रूप से लाभान्वित होंगे। □

चंपारण सत्याग्रह शताब्दी समापन समारोह में पुस्तकों का लोकार्पण



भारत के स्वतंत्रता संग्राम के एक गौरवपूर्ण अध्याय - चंपारण सत्याग्रह के शताब्दी समारोह के समापन के अवसर पर 10 अप्रैल, 2018 को चेन्नई में प्रकाशन विभाग की तीन महत्वपूर्ण पुस्तकों के तमिल संस्करणों का लोकार्पण किया गया। ये पुस्तकें हैं- 'गांधी इन चंपारण' (लेखक- डी.जी. तेंदुलकर), 'बापू के साथ' (लेखक- कनु गांधी और आभा गांधी) तथा 'महात्मा गांधी एंड वन वर्ल्ड'।

इन पुस्तकों का अनुवाद गांधी स्टडी सेंटर, चेन्नई ने उपलब्ध कराया था। पुस्तकों का लोकार्पण मद्रास उच्च न्यायालय की भूतपूर्व न्यायाधीश श्रीमती प्रभा श्रीदेवन ने किया। इस अवसर पर अनेक विद्वान और गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। समारोह का आयोजन गांधी नेशनल म्यूज़ियम, नई दिल्ली के सहयोग से किया गया था। गांधी नेशनल म्यूज़ियम गांधी साहित्य की अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकों के प्रामाणिक पाठ उपलब्ध कराकर प्रकाशन विभाग को सहयोग दे रहा है।

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) - 05/3222/2018-20 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)-49/2018-20

Postal Regn. No. DL (S) - 05/3222/2018-20

Licenced U (DN) - 49/2018-20 to post without pre-payment at RMS Delhi

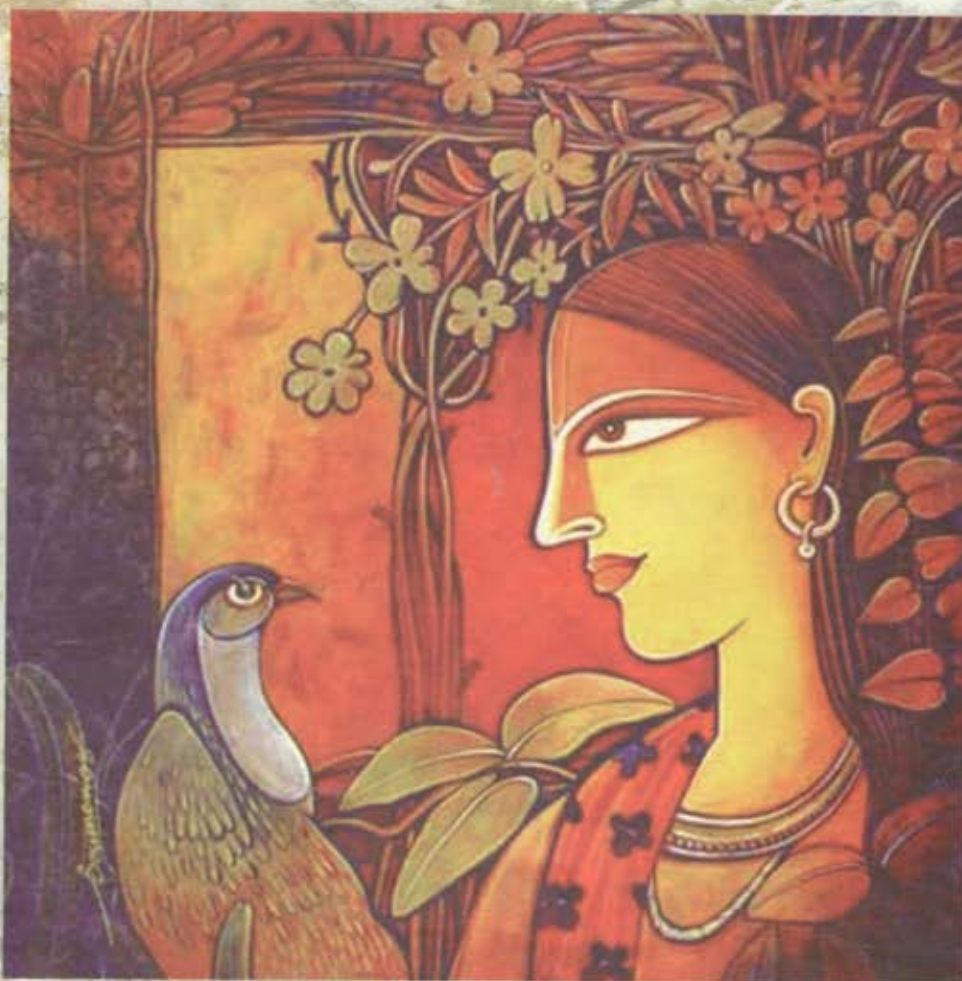
● 10 अप्रैल 2018 को प्रकाशित

● 21-22 अप्रैल 2018 को डाक द्वारा जारी

दिल्ली डाक आर एन आई 701/57

Delhi Postal RNI 701/57

● वार्षिक मूल्य : ₹ 230



प्रकाशक व मुद्रक : डॉ. साधना राउत, महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजुकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित ।

संपादक : फरहत परवीन